

तुलसी प्रज्ञा

TULSÍ PRAJÑĀ

वर्ष 31 • अंक 122 • अक्टूबर-दिसम्बर, 2003

Research Quarterly

अनुसंधान त्रैमासिकी



जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूँ

(मान्य विश्वविद्यालय)

JAIN VISHVA BHARATI INSTITUTE, LADNUN

(DEEMED UNIVERSITY)

शोधस्य लक्ष्यं ज्ञानम्

तुलसी प्रज्ञा _____ _____TULSI PRAJÑĀ

Research Quarterly of Jain Vishva Bharati Institute

VOL.-122

OCTOBER—DECEMBER, 2003

Patron

Sudhamahi Regunathan
Vice-Chancellor

Editor in

Hindi Section

Dr Mumukshu Shanta Jain

English Section

Dr Jagat Ram Bhattacharyya

Editorial-Board

Dr Mahavir Raj Gelra, Jaipur
Prof. Satya Ranjan Banerjee, Calcutta
Dr R.P. Poddar, Pune
Dr Gopal Bhardwaj, Jodhpur
Prof. Dayanand Bhargava, Ladnun
Dr Bachh Raj Dugar, Ladnun
Dr Hari Shankar Pandey, Ladnun
Dr J.P.N. Mishra, Ladnun



Publisher :

Jain Vishva Bharati Institute, Ladnun-341 306

Research Quarterly of Jain Vishva Bharati Institute

VOL. 122

OCTOBER—DECEMBER, 2003

Editor in Hindi

Dr Mumukshu Shanta Jain

Editor in English

Dr Jagat Ram Bhattacharyya

Editorial Office

Tulsī Prajñā, Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University)

LADNUN-341 306, Rajasthan

Publisher : Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University)
Ladnun-341 306, Rajasthan

Type Setting : Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University)
Ladnun-341 306, Rajasthan

Printed at : Jaipur Printers Pvt. Ltd., Jaipur-302 015, Rajasthan

Subscription (Individuals) Three Year 250/-, Life Membership Rs. 1500/-
Subscription (Institutions/Libraries) Annual Rs. 200/-

The views expressed and facts stated in this journal are those of the writers, the Editors may not agree with them.

अनुक्रमणिका/CONTENTS

हिन्दी खण्ड

| विषय | लेखक | पृष्ठ |
|--|---------------------------------------|-------|
| विवाहपण्णती में नय सिद्धान्त का विवेचन | डॉ. अनेकान्त कुमार जैन | 5 |
| 'आवश्यक सूत्र' में आचार मीमांसा | अनिल कुमार सोनकर | 11 |
| अर्द्धमागधी आगमों में संस्कार | डॉ. श्रीमती राजेश्वरी मिश्र 'राजश्री' | 23 |
| क्या विद्युत् (इलेक्ट्रीसिटी) सचित तेउकाय है ? | प्रो. मुनि महेन्द्र कुमार | 28 |

अंग्रेजी खण्ड

| Subject | Author | Page |
|--|-------------------------|------|
| Ācārāṅga-Bhāṣyam | Ācārya Mahāprajña | 69 |
| Suprabhatam: A Didactic work of Acarya Mahaprajna | Lopamudra Bhattacharyya | 83 |
| Dietary Management of Peptic Ulcer | Dr J.P.N. Mishra | 93 |
| EMPOWERMENT: Knowledge is Power Empower the People | Pratibha J. Mishra | 100 |

नए मानव का जन्म

- .. कल की अगवानी में नया मानव जातिवाद और सम्प्रदायवाद की सरहदों से मुक्त होगा।
- .. नया मानव साम्प्रदायिक नहीं, धार्मिक होगा।
- .. नया मानव अहिंसा के प्रति आस्थाशील होगा। वह हिंसा के हथियार को तीव्र नहीं करेगा।
- .. नया मानव लोकतंत्र की जड़ें काटेगा नहीं, उनको और अधिक गहराई तक पहुंचाएगा।
- .. नया मानव पर्यावरण को प्रदूषित नहीं करेगा, उसकी सुरक्षा के लिए जागरूक रहेगा।
- .. नया मानव अर्थ को जीवन का साधन मानेगा, उसे साध्य मानकर नहीं रुकेगा।
- .. नया मानव नशे की गिरफ्त से मुक्त होगा।
- .. नया मानव युगशैली के प्रवाह में नहीं बहेगा, उसकी सुचिन्तित जीवनशैली होगी।

नए मानव का सम्बन्ध जन्म से नहीं, निर्माण से जोड़ना होगा। नए से मेरा अभिप्राय है चिन्तन की नवीनता, सृजनशीलता, वर्चस्व और विधायक दृष्टिकोण। नव मानव के निर्माण की यही प्रक्रिया है।

सही समय पर सही दिशा में किया गया पुरुषार्थ निश्चित रूप से फलदायी होगा, इस आस्था के साथ नया प्रस्थान हो।

— अनुशास्ता आचार्य तुलसी

विआहपण्णत्ती में नय सिद्धान्त का विवेचन

— डॉ. अनेकान्तकुमार जैन

भगवान महावीर की वाणी द्वादशांगी में संकलित है। उस द्वादशांगी के पांचवें अंग का नाम है — विआहपण्णत्ती, जो भगवती सूत्र के नाम से सुप्रसिद्ध है। जैन साहित्य में तत्त्वज्ञान की दृष्टि से भगवती का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इस आगम में अनेकान्त तथा नय का विवेचन किया गया है, जिससे मालूम पड़ता है कि अनेकान्त तथा नय का यह उद्गम काल था। आचार्य महाप्रज्ञ का इस संदर्भ में कहना है कि —

प्रस्तुत आगम में तत्त्वविद्या का प्रारम्भ “चलमाणे चलिए” इस प्रश्न से होता है। जैनदर्शन में प्रत्येक तत्त्व का प्रतिपादन अनेकान्त की दृष्टि से होता है। एकान्त दृष्टि के अनुसार चलमान और चलित — दोनों एक क्षण में नहीं हो सकते। अनेकान्त की दृष्टि के अनुसार चलमान और चलित — दोनों एक क्षण में होते हैं। समूचे आगम में अनेकान्त दृष्टि का पूरा उपयोग किया गया है। अनेकान्त का स्वरूप है — नयवाद या दृष्टिवाद। मध्य युग में तर्कप्रधान आचार्यों ने अनेकान्त का प्रमाण के साथ सम्बन्ध स्थापित किया है, वह मौलिक नहीं है। अनेकान्तवाद के अनुसार प्रमाण औपचारिक है, वास्तविक है नय।¹ इस कथन से नयों का महत्त्व उजागर होता है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव

यद्यपि भगवतीसूत्र जैसे प्राचीन आगमों में प्रसिद्ध नैगमादि सात नयों का उल्लेख नहीं है तथापि नय सिद्धान्त के मूल को वहाँ खोजा जा सकता है। एक ही वस्तु के नाना रूप हैं। इसलिए द्रष्टा की रूचि और शक्ति, दर्शन का साधन, दृश्य की दैशिक और कालिक स्थिति, द्रष्टा की दैशिक और कालिक स्थिति, दृश्य का स्थूल और सूक्ष्म रूप आदि अनेक कारणों से नाना मतों की सृष्टि हो जाती है। प्रत्येक मत अलग-अलग विशेषताओं को लिये हुए होते हैं। उनके विचार भेदों में

कुछ विचार-भेद तो अत्यन्त सूक्ष्म और कुछ विचार भेद अत्यन्त स्थूल अन्तर्गतों को लिये हुए होते हैं। इन अन्तर्गतों के कारण मतों की संख्या इतनी अधिक हो जाती है कि उनकी व्यक्तिशः गणना करना कठिन है और उनके कारण रूप विशेषों का परिगणन भी दुष्कर है।

इस दुष्करता का साधारणीकरण करने के उद्देश्य से मध्यममार्ग अपनाया गया और सभी अपेक्षाओं का चार प्रकार से वर्गीकरण किया गया — द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। इसी आधार पर प्रत्येक वस्तु के भी चार प्रकार हो जाते हैं अर्थात् दृष्टा इन चार दृष्टियों, अपेक्षाओं तथा आदेशों के आधार पर ही वस्तु का दर्शन करता है। यह एक ऐसा विभाजन है कि दृष्टि चाहे जिस भी विशेष दृष्टि से वस्तु का दर्शन करे उसकी वह विशेष दृष्टि भी किसी-न-किसी प्रकार से इन चारों में से किसी-न-किसी एक में गर्भित हो ही जायेगी।² कई प्रकार के विरोधों का इन्हीं चार दृष्टियों और वस्तु के चार रूपों के आधार पर परिहार किया गया, इसके अनेक उदाहरण भगवती में देखने को मिलते हैं।

द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव — इन चार दृष्टियों का समावेश दो नयों या दो दृष्टियों में किया गया। वे दो नय हैं — द्रव्यार्थिक और भावार्थिक (पर्यायार्थिक)। भगवती में कहा गया है कि द्रव्य की दृष्टि से जीव शाश्वत और भाव (पर्याय) की दृष्टि से जीव अशाश्वत है।

वस्तुतः यदि हम देखें तो पायेंगे कि द्रव्य की किसी भी विशेषता को काल या देश-क्षेत्र से मुक्त नहीं किया जा सकता। काल और देश के भेद से द्रव्यों में विशेषताएँ अवश्य होती हैं। अन्य कारणों के साथ काल और देश भी अवश्य साधारण कारण होते हैं। अतएव काल और क्षेत्र, पर्यायों के कारण होने से यदि पर्यायों में समावेश कर लिये जायें तब तो मूलतः दो ही दृष्टियाँ रह जाती हैं — द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। आचार्य सिद्धसेन इस बात का स्पष्ट उल्लेख करते हैं कि वस्तुतः ये ही मूल दो दृष्टियाँ हैं और शेष सभी दृष्टियाँ इन्हीं दो की शाखा-प्रशाखाएँ हैं।⁹

अनुयोगद्वार में सात मूल नयों की गणना भी की गयी है। वे सात नय हैं — नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ तथा एवंभूत¹⁰ इन सातों के मूल में भी द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक ये दो मूल नय ही हैं, जैसा कि हम प्रारम्भ में कह चुके हैं। किन्तु सिद्धसेन के इस कथन के आधार पर कि जितने भी वचनमार्ग हो सकते हैं, उतने ही नय हैं।¹¹ ऐसा मानकर अपने ज्ञान में यदि हम असंख्य नयों की कल्पना भी करें तब भी उन सभी नयों का समावेश इन्हीं दो नयों में हो जाता है और यही इन दो दृष्टियों की व्यापकता है।

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक — इन दोनों का भगवती में क्या अभिप्राय है? यह बात भगवती के वर्णन से स्पष्ट हो जाती है। भगवती के अनुसार अव्युच्छित्ति नय की अपेक्षा नैरयिक जीव शाश्वत हैं और व्युच्छित्ति नय की अपेक्षा नैरयिक जीव अशाश्वत।¹²

इससे यह स्पष्ट तो हो ही जाता है कि वस्तु की नित्यता का प्रतिपादन द्रव्य दृष्टि से होता है और अनित्यता का प्रतिपादन पर्याय दृष्टि से अर्थात् द्रव्य नित्य है और पर्याय अनित्य। इसी से यह भी फलित हो जाता है कि द्रव्यार्थिक दृष्टि अभेदगामी है और पर्यायार्थिक दृष्टि भेदगामी, क्योंकि नित्य में अभेद होता है और अनित्य में भेद।

भगवती में कहा है कि मैं द्रव्य रूप से एक हूँ, ज्ञान और दर्शन की दृष्टि से दो हूँ। आत्म-प्रदेशों की अपेक्षा से मैं अक्षय हूँ, अव्यय हूँ और अवस्थित (कालत्रयी स्थायी नित्य) हूँ तथा (विविध विषयों के) उपयोग की दृष्टि से मैं अनेकभूत-भाव-भाविक (भूत और भविष्य के विविध परिणामों के योग्य) भी हूँ।¹³

यहाँ आत्मा की एकात्मकता बतायी गयी है। यहाँ द्रव्य और पर्याय नय का आश्रयण स्पष्ट है। यहाँ यह भी स्पष्ट हो जाता है कि द्रव्यदृष्टि एकत्वगामी है और पर्यायदृष्टि अनेकत्वगामी, क्योंकि नित्य एकरूप होता है और अनित्य अनेक रूप होता है। विच्छेद कालकृत, देशकृत होता है और अविच्छेद भी कालकृत, देशकृत और वस्तुकृत होता है। कालकृत विच्छिन्न को नित्य, देशकृत विच्छिन्न को भिन्न और वस्तुकृत विच्छिन्न को अनेक कहा जाता है। काल से अविच्छिन्न को नित्य, देश से अविच्छिन्न को अभिन्न और वस्तुकृत अविच्छिन्न को एक कहा जाता है। इस प्रकार द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक का क्षेत्र इतना व्यापक है कि उसमें सभी दृष्टियों का सामवेश सहज रीति से हो जाता है।¹⁴

द्रव्यार्थिक-प्रदेशार्थिक

द्रव्य और पर्याय दृष्टि से जिस प्रकार वस्तु को देखा जाता है, उसी प्रकार द्रव्य और प्रदेश की दृष्टि से भी देखा जा सकता है। यहाँ स्वयं में द्रव्यदृष्टि, पर्यायदृष्टि, प्रदेशदृष्टि और गुणदृष्टि से नाना विरोधी धर्मों का समन्वय बतलाया है।

भगवती में पर्यायदृष्टि से भिन्न एक प्रदेश दृष्टि को भी माना है परन्तु यहाँ उन्होंने प्रदेश दृष्टि का उपयोग आत्मा के अक्षय, अव्यय और अवस्थित धर्मों के प्रकाशन में किया है, क्योंकि पुद्गल प्रदेशों की तरह आत्म-प्रदेशों में कभी न्यूनाधिकता नहीं होती। इसी दृष्टि को सामने रखकर प्रदेश दृष्टि से आत्मा का अव्यय आदि रूप से उन्होंने वर्णन किया है। प्रदेशार्थिक दृष्टि का एक दूसरा भी उपयोग है। द्रव्यदृष्टि से एक वस्तु में एकता ही होती है, किन्तु उसी वस्तु की अनेकता प्रदेशार्थिक दृष्टि से कही जा सकती है। कारण कि प्रदेशों की संख्या अनेक होती है। प्रज्ञापना में द्रव्यदृष्टि से धर्मास्तिकाय को एक कहा और उसी को प्रदेशार्थिक दृष्टि से असंख्यातगुणा भी बताया।¹⁵

तुल्यता-अतुल्यता

तुल्यता-अतुल्यता का प्रतिपादन भी प्रदेशार्थिक और द्रव्यार्थिक दृष्टि से किया गया है।

भगवती में इसका उल्लेख है तथा वहाँ भी इसका वर्णन प्रज्ञापनासूत्र के बहुवक्तव्य पद से समझने के लिए कहा है।¹⁶ जो द्रव्य द्रव्यदृष्टि से तुल्य होते हैं वे ही प्रदेशार्थिक दृष्टि से अतुल्य हो जाते हैं। जैसे — धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्यदृष्टि से एक-एक होने से तुल्य हैं, किन्तु प्रदेशार्थिक दृष्टि से धर्म और अधर्म ही असंख्यात प्रदेशी होने से तुल्य हैं, जबकि आकाश अनन्त प्रदेशी होने से अतुल्य हो जाता है। इसी प्रकार द्रव्यों में भी इन द्रव्य और प्रदेश दृष्टियों के अवलम्बन से तुल्यता-अतुल्यता रूप विरोधी धर्मों और विरोधी संख्याओं का समन्वय भी हो जाता है।¹⁷

ओघादेश-विधानादेश (सामान्य-विशेष)

भगवती में कृत-युग्मादि संख्या का विचार ओघादेश और विधानादेश — इन दो दृष्टियों से किया गया है। जैसे वहाँ गौतम ने प्रश्न पूछा कि भगवन् जीव द्रव्यार्थ रूप से कृतयुग्म है ? तब भगवान महावीर उत्तर देते हुए कहते हैं कि गौतम् ! वे ओघादेश से (सामान्यतः) कृतयुग्म हैं किन्तु त्र्योज, द्वापरयुग्म या कल्योज रूप नहीं हैं। विधानादेश (प्रत्येक की अपेक्षा) से वे कृतयुग्म, त्र्योज तथा द्वापरयुग्म नहीं हैं। किन्तु कल्योज रूप हैं।¹⁸

यहाँ हमें यह सूचना मिल जाती है कि इन दोनों दृष्टियों का प्रयोग कब करना चाहिए। सामान्यतः यह प्रतीत होता है कि वस्तु की संख्या तथा भेदाभेद के विचार में इन दोनों दृष्टियों का उपयोग किया जा सकता है।

व्यावहारिक और नैश्चयिक नय

भगवती में व्यावहारिक और नैश्चयिक नयों के माध्यम से भी वस्तु-स्वरूप को समझाने का प्रयास किया गया है। यहाँ फाणित प्रवाही^{18-ए} (गीला) गुड़ को दो नयों से समझाया गया है। व्यावहारिक नय की अपेक्षा से तो वह मधुर कहा जाता है पर नैश्चयिक नय से वह पाँच वर्ण, दो गन्ध, पाँच रस और आठ स्पर्शों से युक्त है।¹⁹ भ्रमर के विषय में भी उनका कथन है कि व्यावहारिक दृष्टि से भ्रमर कृष्ण है पर नैश्चयिक दृष्टि से उसमें पाँचों वर्ण, दोनों गन्ध, पाँचों रस और आठों स्पर्श होते हैं।²⁰ इस प्रकार वहाँ इसी प्रसंग में अनेक विषयों को लेकर व्यवहार और निश्चय नय से उनका विश्लेषण किया है। अपने-अपने क्षेत्र में ये व्यावहारिक और नैश्चयिक — ये दोनों नय सत्य हैं। व्यावहारिक सभी मिथ्या ही हैं या नैश्चयिक ही सत्य हैं, ऐसा मान्य नहीं है। इन दोनों नयों के द्वारा ही वस्तु का सम्पूर्ण दर्शन हो पाता है। आगे के जैनाचार्यों, विशेषतः आचार्य कुन्दकुन्द ने व्यवहार-निश्चय नय का तत्त्वज्ञान के अनेक विषयों में प्रयोग किया है। इतना ही नहीं, बल्कि तत्त्वज्ञान के अतिरिक्त आचार के अनेक विषयों में भी इन नयों का उपयोग किया है।

सन्दर्भ-सूची :

1. भगवई, विआहपण्णती (खण्ड-1), संपादक-भाध्यकार-आचार्य महाप्रज्ञ, भूमिका, पृ. 16, प्रका. जैन विश्वभारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय), लाडनूँ-1994
2. तुलनीय, आगमयुग का जैन दर्शन, पं. दलसुखभाई मालवणिया, पृ. 115-116
9. तित्थयरवयणसंगह-विसेसपत्थारमूलवागरणी।
दव्वट्टिओ य पज्जवणओ य सेसा वियप्पा सिं ॥ — सन्मति-प्रकरण, प्रथम काण्ड, गाथा-3, पृ. 2
10. से किं तं णए ? सत्त मूलणया पणत्ता । तं जहा णेगमे संगहे ववहारे उज्जुसुए सदे समभिरूढे एवंभूते ।
— अणुओगदाराइं-सम्पादक आचार्य महाप्रज्ञ, तेरहवां प्रकरण, सूत्र 715, पृ. 376, प्रका. जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ प्रसं. 1996
11. जावइया वयणवहा तावइया चेव होंति णयवाया ।
जावइया णयवाया तावइया चेव परसमया ॥ — सन्मति प्रकरण-तृतीय काण्ड, गाथा-47, पृ. 89
12. से केणट्टेणं भंते, एवं वुच्चइ नेरतिया सिय सासया, सिय असासया ?
गोयमा, अव्वोच्छित्तिणयट्टयाए सासया, वोच्छित्तिणयट्टयाए, असासया । से तेणट्टेणं जाव सिया असासया ।
— भगवती (द्वितीय खण्ड) सातवां शतक उद्देशक-3, पृ. 146
13. से केणट्टेणं भंते ! एवं वुच्चइ जाव भविए वि अहं ?
सोमिला ! दव्वट्टयाए एणे अहं, नाण-दंसणट्टयाए दुविहे अहं, पएसट्टयाए अक्खए वि अहं, अव्वए वि अहं, अव्वट्टिए वि अहं, उवयोगट्टयाए अणेगभूयभावभविए वि अहं । से तेणट्टेणं जाव भविए वि अहं । — भगवती (तृतीय खण्ड), अठारहवां शतक, उद्देशक-10, पृ. 750
14. आगम युग का जैनदर्शन, पृ. 118
15. एतस्सणं भंते, धम्मत्थिकायस्स दव्वट्ट-पदेसट्टताए कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ल वा विसेसाहिया वा ? गोयमा, सव्वत्थोवे एणे धम्मत्थिकाए दव्वट्टताए, से चेव पदेसट्टताए असंखेज्जगुणे ।
— प्रज्ञापना सूत्र, भाग-1, तृतीय बहुवक्तव्यपद, इक्कीसवां अस्तिकायद्वार, सूत्र 272 (1), पृ. 100, सम्पादक — मुनि पुण्यविजय, जैन आगम ग्रन्थ माला, ग्रन्थांक 9, प्रका. श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई-26, प्रथम संस्करण-1969
16. एएसि णं भंते । धम्मत्थिकाय-अधम्मत्थिकाय जाव अद्दासमयाणं दव्वट्टयाए ? एएसिं अप्पाबहुं जहा बहुवक्तव्वयाए तहेव निवसेस । — भगवती, चतुर्थखण्ड, शतक-25, उद्देशक-4, पृ. 329
17. गोयमा ! धम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकाए ए एते णं दोण्णि वि तुल्ला पदेसट्टताए असंखेज्जगुणा, जीवत्थिकाए दव्वट्टयाए
अणंतगुणे, से चेव पदेसट्टताए असंखेज्जगुणे, पोग्गलत्थिकाए दव्वट्टयाए
अणंतगुणे, से चेव पदेसट्टयाए असंखेज्जगुणे, अद्दासमए दव्वट्ट-पदेसट्टयाए
अणंतगुणे आगासत्थिकाए-पएसट्टयाए अणंतगुणे । — प्रज्ञापना, वही, सूत्र-273, पृ. 101

18. जीवा णं भंते ! दव्वट्टयाए किं कडजुम्मा. पुच्छा ।
 गोयमा ! ओघादेसेणं कडजुम्मा, नो तेयोगा, नो दावर, नो कलियोगा,
 विहाणादेसेणं नो कडजुम्मा, नो तेयोगा, नो दावरजुम्मा, कलियोगा ।
 — भगवती (चतुर्थ खण्ड), पच्चीसवाँ शतक, उद्देशक-4, पृ. 331
- 18-ए. फाणित प्रवाही गुड़-गुड़ का विकार विशेष, आर्द्र गुड़, पानी से द्रवित गुड़
 — पाइअसद्महण्णवो, पृ. 622, एम.एल.बी.डी.
19. फाणियगुले णं भंते ! कतिवण्णे कतिगंधे कतिरसे कतिफासे पन्नत्ते ?
 गोयमा ! एत्थ दो नया भवंति, तं जहा-नेच्छयियनए य वावहारियनए य ।
 वावहारियनयस्स गोड्ढे फाणियगुले, नेच्छइयनयस्स पंचवण्णे दुगंधे पंचरसे अट्टफासे पन्नत्ते ।
 — भगवती (तृतीय खण्ड), अठारहवाँ शतक, उद्देशक-6, पृ. 704
20. भमरे णं भंते । कतिवण्णे पुच्छा ।
 गोयमा । एत्थ दो नया भवंति, तं जहा-नेच्छयियनए प वावहारियनए प ।
 वावहारियनयस्स कालए भमरे, नेच्छइयनयस्स पंचवण्णे जाव अट्टफासे पन्नत्ते ।
 — भगवती (वही), तृतीय खण्ड, 18वां शतक, उद्देशक-6, पृ. 706

प्रवक्ता, जैन दर्शन विभाग

दर्शन संकाय .

श्री लालबहादुर शास्त्री संस्कृत विद्यापीठ
 (मान्य विश्वविद्यालय)

कुतुब सांस्थायिक क्षेत्र, नई दिल्ली - 16

‘आवश्यक सूत्र’ में आचार मीमांसा और उसकी प्रासंगिकता

— अनिल कुमार सोनकर

भारतीय आचारशास्त्रीय परम्परा में सम्पूर्ण जीवन का आधार और लोकस्थिति का व्यवस्थापक नीतिशास्त्र साध्य के निर्देशन एवं नैतिक मान्यताओं की समीक्षा के रूप में दर्शन, आचरण के विश्लेषण के रूप में विज्ञान और चरित्र-निर्माण के रूप में कला है। इसमें उन नियमों का निरूपण हुआ है जिन पर चलने से मनुष्य का ऐहिक एवं सनातन कल्याण होता है, समाज में स्थिरता और सन्तुलन स्थापित होता है तथा जिनके पालन से व्यक्ति और समाज दोनों का ही श्रेय होता है। ‘स्वभाव-दशा की उपलब्धि’ को परम श्रेय के रूप में स्वीकार करने वाले जैनाचार का भारतीय आध्यात्मिक साधना में अमिट स्थान है। भारतीय आचार की सभी धाराओं का परम श्रेय-‘समत्व’ जैनाचार-मीमांसा के अन्तर्गत मानसिक क्षेत्र में ‘अनासक्ति’ या ‘वीतरागता’ के रूप में, सामाजिक क्षेत्र में ‘अहिंसा’ के रूप में, वैचारिकता के क्षेत्र में ‘अनाग्रह या अनेकान्त’ रूप में और आर्थिक क्षेत्र में ‘अपरिग्रह’ के रूप में अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार जैनाचार-मीमांसा में परम श्रेय के रूप में जो मोक्ष है वही धर्म है और जो धर्म है वही ‘समत्व-प्राप्ति’ है।

यदि सिद्धान्त रूप में यह स्वीकार किया जाये कि वेद और उपनिषद् ही समस्त भारतीय आचार दर्शनों का उद्गम हैं तो किसी अर्थ में उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप जन सामान्य के कल्याण के लिए आचार-व्यवहार के सुव्यवस्थित नियमों का प्रतिपादन करने वाला जैनाचार व्यापक आदर्शों वाली वह वैज्ञानिक जीवन-पद्धति है जो मनुष्य की आचार-शुद्धि और साधना के द्वारा चरम उन्नति का आश्वासन प्रतिपादित करते हुए मनुष्य को जैनत्व से सम्पन्न करने की क्षमता रखती है। साथ ही अन्यान्य परम्पराओं के विपरीत मुक्तिदाता के रूप में किसी एक सर्वोच्च सत्ता सम्पन्न ईश्वर अथवा तीर्थंकर के अनस्तित्व का निर्देश करते हुए उस

आस्था का विधायक है कि मनुष्य अपने प्रयासों एवं सद्कर्मों से जगत् में सर्वोच्च स्थिति (मुक्तावस्था) को प्राप्त कर सकता है। मानव के ऐहिक मूल्यों की प्राप्ति का साक्षात् हेतु तथा पारलौकिक मूल्यों की प्राप्ति का पारम्परिक हेतु जैनाचार मात्र वैयक्तिक मुक्ति का उपाख्यान नहीं करता, अपितु उसे समष्टिगत कल्याण के रूप में देखता है। उसकी यही दृष्टि मनुष्य में आत्मगौरव, आत्मविश्वास और आत्मशक्ति को उदित करने में सफल रहती है।

उक्त विशेषताओं से परिपूर्ण अनन्त शक्ति सम्पन्न तीर्थकरों के साक्षात् उपदेश पर आधारित ध्यानमार्गी जैनाचार-मीमांसा का मूलप्राण 'आवश्यक सूत्र' प्राचीन साहित्य में प्रतिपादित चार मूलसूत्रों में से एक मूलसूत्र ग्रन्थ है जो जीवन शुद्धि और दोष परिमार्जन का ऐसा जीवन्त भाष्य है जिसमें चतुर्विध संघ द्वारा समाचरणीय नित्य कर्तव्य कर्म के रूप में आचार के उन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है जिसके परिज्ञान से साधक अपनी आत्मा को निरखता-परखता है, साथ ही आत्मनिरीक्षण, आत्मपरीक्षण और आत्मोत्कर्ष का वह श्रेष्ठतम उपाय है जिसकी साधना और आराधना से आत्मा शाश्वत सुख का अनुभव करता है, कर्म मल को नष्ट कर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् आचरण से आध्यात्मिक आलोक को प्राप्त करता है।

समस्त प्राणियों की अभिलाषा है — सुख-प्राप्ति। लेकिन इस सुख की प्राप्ति कैसे हो ? इसके सम्बन्ध में समस्त प्राणी अनभिज्ञ होते हैं। यह कोई बाह्य वस्तु या फल नहीं जिसको किसी भी समय प्राप्त किया जा सके। सुख-दुःख तो आत्मा के अन्दर छिपे हुए हैं और उसकी प्राप्ति के कुछ क्रियाओं का सम्पादन अनिवार्य है। अतः जीवन की वह क्रिया जिसके अभाव में प्राणी आगे नहीं बढ़ सकता, वही आवश्यक कहलाती है। जीवित रहने के लिए जिस प्रकार श्वास लेना जरूरी है, ठीक उसी प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में जीवन की पवित्रता के लिए जो क्रिया या साधना जरूरी है, अनिवार्य है। उसे ही आगम में 'आवश्यक' की संज्ञा से अभिहित किया गया है। अनुयोगद्वारचूर्ण में आवश्यक को पारिभाषित करते हुए कहा गया है कि 'जो गुणशून्य आत्मा को प्रशस्त भावों से आवासित करता है, वह आवश्यक है।' वहीं अनुयोगद्वार मल्लधारीय टीका में लिखा है - जो समस्त गुणों का निवास स्थान है, वह आवासक आवश्यक सूत्र है।²

जिस प्रकार 'आत्मशोधन' के लिए वैदिक परम्परा में 'सन्ध्या', बौद्ध परम्परा में 'उपन्यास', पारसियों में 'खोर देह अवेस्ता', यहूदी और ईसाइयों में 'प्रार्थना' तथा इस्लाम धर्म में 'नमाज़' प्रतिष्ठित है, उसी प्रकार जैन-साधना पद्धति में 'आध्यात्मिक शुद्धि' अथवा दोषों के निराकरण हेतु एवं गुणों की अभिवृद्धि के लिए 'षडावश्यक' पाठ का प्रतिपादन किया गया है जिसका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है: —

सामायिक आवश्यक जैनाचार दर्शन में श्रमण के लिए पांच चारित्रों में प्रथम चारित्र और गृहस्थ साधकों के चार शिक्षाव्रतों में प्रथम शिक्षाव्रत-सामायिक नैतिक साधना का अथ

और इति दोनों है। सामायिक को धारण किये बिना कोई भी व्यक्ति मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता है। समत्व-साधना में साधक जहाँ बाह्य रूप में सावद्य (हिंसक) प्रवृत्तियों का त्याग करता है³, वहीं आन्तरिक रूप में सभी प्राणियों के प्रति आत्मभाव एवं सुख-दुःख, लाभ-हानि आदि में समभाव रखता है।⁴ लेकिन इन दोनों से भी ऊपर वह अपने विशुद्ध रूप में आत्म-साक्षात्कार का प्रयत्न है। 'सम' शब्द का अर्थ है श्रेष्ठ और 'अयन' का अर्थ आचारण है अर्थात् श्रेष्ठ आचारण का नाम सामायिक है। मन, वचन और काय की असत् वृत्तियों को रोककर अपने निश्चित लक्ष्य की ओर ध्यान को केन्द्रित कर देना सामायिक है। कर्मों के निमित्त से राग-द्वेष के विषम भाव उत्पन्न होते हैं। उन विषम भावों से अपने आपको हटाकर स्व-स्वरूप में रमण करना समता है। समता को ही गीता में योग कहा गया है जबकि आचार्य हरिभद्र लिखते हैं—
 "सामायिक की विशुद्ध साधना से जीव घाति कर्मों को नष्टकर केवल ज्ञान को प्राप्त करता है।"⁵

सामायिक के मुख्य भेद हैं—द्रव्य-सामायिक और भाव-सामायिक। सामायिक ग्रहण करने के पूर्व जो विधि-विधान सम्पन्न होते हैं, वह द्रव्य सामायिक है और साधक जब आत्म-भाव में स्थिर रहता है तब वह भाव-सामायिक कहलाता है। सामायिक में द्रव्य और भाव दोनों की आवश्यकता होती है। सच्ची सामायिक साधना भी वही है जिसमें द्रव्य और भाव दोनों का समावेश हो। आचार्य भद्रबाहु ने भी सामायिक के तीन भेद बताए हैं — सम्यक्त्व सामायिक, श्रुतसामायिक और चारित्र सामायिक। सामायिक की साधना के लिए सम्यक्त्व आवश्यक है। बिना सम्यक्त्व के श्रुत और चारित्र दोनों निर्मल नहीं होते हैं। सर्वप्रथम दृढ़ निष्ठा से विश्वास की शुद्धि होती है। सम्यक्त्व में अंधविश्वास नहीं होता। वहाँ भेदविज्ञान होता है। श्रुत से विचारों की शुद्धि होती है। जब विश्वास और विचार शुद्ध होता है तब चारित्र शुद्ध होता है।

यद्यपि सामायिक जैन साधना की विशुद्ध साधना-पद्धति है तथापि इस साधना पद्धति की तुलना आंशिक रूप से अन्य धर्मों की साधना-पद्धति से की जा सकती है, यथा-बौद्ध और वैदिक परम्परा। बौद्ध परम्परा संस्कृति की ही एक धारा है। इस परम्परा में प्रतिपादित अष्टांगिक मार्ग में सभी के प्रारम्भ में जिस 'सम्यक्' शब्द का प्रयोग हुआ है, यथा-सम्यग्दृष्टि, सम्यक्-वाक्, सम्यक्-संकल्प, सम्यक्-कर्मान्त, सम्यक्-व्यायाम, सम्यक्-स्मृति और सम्यक्-समाधि। बौद्ध साहित्य के मनीषियों के अनुसार वह 'सम' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि पाली भाषा में जो सम्मा शब्द है, उसके सम और सम्यक् दोनों रूप बनते हैं। यहाँ पर प्रयुक्त सम्यक् शब्द का अर्थ है-राग-द्वेष की वृत्तियों को न्यून करना। जब राग-द्वेष की मात्रा कम होती है, तभी साधन समत्वयोग की ओर अग्रसर होता है और राग-द्वेष से मुक्त होने के पश्चात् ही चित्तवृत्तियाँ समाधि के दर्शन में समर्थ होती हैं। संयुक्त निकाय में तथागत बुद्ध कहते हैं-जिन व्यक्तियों ने धर्मों को वास्तविक रूप में जान लिया है, जो किसी मत, वाद या पक्ष में उलझे नहीं हैं, वे सम्बद्ध हैं, समद्रष्टा हैं और विषम परिस्थितियों में भी उनका आचारण सम रहता है।⁶ सुत्तनिपात में कहा गया है-जिस प्रकार मैं हूँ, वैसे ही संसार के सभी प्राणियों को अपने सदृश समझकर आचारण करना चाहिए।⁷

श्रीमद्भगवद्गीता वैदिक परम्परा का एक प्रतिनिधि ग्रन्थ है जिसमें स्पष्ट रूप से निरूपित है कि कर्म, भक्ति तथा ध्यान आदि का उद्देश्य समत्व है। बिना समत्व के ज्ञान अज्ञान है। जिसमें समत्वभाव है वही वस्तुतः यथार्थ ज्ञानी है। समता की उपस्थिति में ही कर्म अकर्म बनाता है जबकि समत्व के अभाव में कर्म का बन्धकत्व यथावत रहता है। समत्व से सम्पन्न साधक ही सच्चा साधक है। समत्व में वह अपूर्व शक्ति है जिसमें अज्ञान ज्ञान के रूप में परिणत हो जाता है और वह ज्ञान योग के रूप में प्रतिष्ठित होता है। गीताकार की दृष्टि से स्वयं परमात्मा/ब्रह्म सम है।^१ तात्पर्य यह है कि व्यक्ति सम में अवस्थित रहता है, वह परमात्मभाव में ही अवस्थित है। समत्व को और अधिक स्पष्ट करने हेतु आचार्य शंकर लिखते हैं—समत्व का अर्थ तुल्यता है, आत्मवत् दृष्टि है। जिस प्रकार सुख मुझे प्रिय और दुःख अप्रिय है वैसे ही विश्व के सभी प्राणियों को सुख प्रिय/अनुकूल है, दुःख प्रतिकूल/अप्रिय है। इस प्रकार जो विश्व के प्राणियों में अपने ही सदृश सुख और दुःख को अनुकूल और प्रतिकूल रूप में देखता है, वह किसी के भी प्रतिकूल आचरण नहीं करता। वही समदर्शी है। सभी प्राणियों के प्रति आत्मवत् दृष्टि रखना समत्व है।^१ इस प्रकार बौद्ध परम्परा अथवा वैदिक परम्परा में जिस रूप में भी सामायिक का निरूपण हुआ है, उसका मूलभाव समभाव है। समत्वयोगी साधक वैचारिक दृष्टि से समदर्शी होता है और भोगासक्ति के प्रति अनाकर्षण का भाव रखता है। उसका आचार निर्मल और विचार उदात्त होते हैं। वह 'जीओ और जीने दो' के सिद्धान्त में विश्वास करता है।

द्वितीय आवश्यक चतुर्विंशतिस्तव- इसमें साधक सावद्य योग से निवृत्त होकर अवलम्बन स्वरूप चौबीस तीर्थकरों की स्तुति करता है। जैन साधना में स्तुति का स्वरूप बहुत कुछ भक्ति मार्ग की जप-साधना या नाम-स्मरण से मिलता है। इसके माध्यम से साधना के आदर्श तीर्थकर या सिद्धपुरुष किसी उपलब्धि की अपेक्षा को पूरा नहीं करते हैं, प्रत्युत् वे मात्र साधना के आदर्श या आलोक स्तम्भ हैं जिसका अनुसरण कर साधक आत्मोत्कर्ष तक पहुँच सकता है। जैन एवं बौद्ध दोनों ही स्वीकार करते हैं—व्यक्ति स्वयं के प्रयत्नों से आध्यात्मिक उत्थान या पतन कर सकता है। यदि साधक स्वयं पाप से मुक्ति का प्रयास नहीं करता और केवल भगवान से मुक्ति की प्रार्थना करता है तो जैन विचारणानुसार यह सर्वथा निरर्थक है, क्योंकि इस प्रकार की विवेकशून्य प्रार्थनाएँ मानव को दीन-हीन और परापेक्षी बनाती हैं। जो साधक स्वयं पुरुषार्थ नहीं करता, उस साधक को केवल तीर्थकरों की स्तुति मुक्ति प्रदान नहीं कर सकती। व्यक्ति का पुरुषार्थ ही उसे मुक्ति की ओर ले जा सकता है। चूँकि चतुर्विंशतिस्तव करने से दर्शन की विशुद्धि होती है, श्रद्धा परिमार्जित होती है और सम्यक्त्व विशुद्ध होता है। उपसर्ग और परिषहों को सहन करने की शक्ति विकसित होती है एवं तीर्थकर/ईश्वर बनने की प्रेरणा मन में उद्बुद्ध होती है। अतः भक्ति का लक्ष्य अपने आप का साक्षात्कार है, अपने में रही शक्ति की अभिव्यक्ति करना है। साधक के अन्तर्मानस में जिस प्रकार की श्रद्धा या भावना होगी उसी के अनुरूप उसका जीवन बनेगा। इसी के निमित्त

जैन साधना में तीर्थकरों की स्तुति का विधान अभिहित है और षडावश्यक तीसरा आवश्यक वन्दना में चतुर्विंशतिस्तव को स्थान दिया गया है।

साधना के आदर्श रूप में तीर्थकरों की उपासना के पश्चात् साधना मार्ग के पथ-प्रदर्शक गुरु के विनय का विधान आवश्यक सूत्र में अभिहित है। मन, वचन और काय का वह प्रशस्त व्यापार जिसमें पथ-प्रदर्शक गुरु एवं विशिष्ट साधनारत साधकों के प्रति श्रद्धा और आदर प्रकट किया जाता है, वंदना है। इसमें उन्हीं व्यक्तियों को प्रणाम किया जाता है जो साधना-पथ पर अपेक्षाकृत आगे बढ़े हुए हैं। जैन विचारणानुसार जो साधक चारित्र्य एवं सद्गुणों से सम्पन्न हैं, वे ही वंदनीय हैं। आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यक निर्युक्ति में सुस्पष्ट शब्दों में लिखा है—ऐसे गुणहीन व्यक्तियों को नमस्कार नहीं करना चाहिए, क्योंकि गुणों से रहित व्यक्ति अवन्दनीय होते हैं। अवन्दनीय व्यक्तियों को नमस्कार करने से कर्मों की निर्जरा नहीं होती, न ही कीर्ति में वृद्धि होती है। असंयम और दुराचार से अनुमोदित होने पर नये कर्म बंधते हैं, अतः उनको वन्दन अनुचित है। एक अवन्दनीय व्यक्ति को जानता है कि मेरा जीवन दुर्गुणों का आगार है, यदि वह सद्गुणी व्यक्तियों से नमस्कार ग्रहण करता है तो वह अपने जीवन को दूषित करता है। असंयम की वृद्धि कर अपना ही पतन करता है।¹⁰

जैनधर्म की दृष्टि से साधक में द्रव्य-चारित्र्य और भाव-चारित्र्य दोनों ही आवश्यक है। गुरु को ऐसा होना चाहिए कि जिसका द्रव्य और भाव दोनों ही चारित्र्य निर्मल हो, व्यवहार और निश्चय दोनों ही दृष्टियों से जिसके जीवन में पूर्णता हो, वही सद्गुरु वन्दनीय और अभिनन्दनीय हैं। साधक को ऐसे ही सद्गुरु से पवित्र प्रेरणा ग्रहण करनी चाहिए। वन्दना आवश्यक में ऐसे ही सद्गुरु को नमन करने का विधान है। वंदना के फलस्वरूप गुरुजनों से सत्संग का लाभ होता है। सत्संग से शास्त्र-श्रवण, शास्त्र-श्रवण से ज्ञान, ज्ञान से विज्ञान और फिर क्रमशः प्रत्याख्यान, संयम-अनास्रव, तप, कर्मनाश, अक्रिया एवं अन्त में सिद्धि के अन्तर्मानस में किसी भी प्रकार की स्वार्थ भावना/आकांक्षा/भय अथवा अन्य किसी प्रकार के अनादर की भावना वर्तमान नहीं रहनी चाहिए। जिनको वन्दन किया जाये उनको समुचित सम्मान प्रदान करें। उस समय साधक के मन, वचन और काय में एकाकारता होनी चाहिए जब वह वन्दनीय के चरणों में नतमस्तक हो।

तथागत बुद्ध ने धम्मपद में कहा है — सरल मानस वाले महात्माओं को नमन करना चाहिए। सदा वृद्धों की सेवा करने वाले और अभिवादनशील पुरुष की चार वस्तुएँ वृद्धि को प्राप्त होती हैं — आयु, सौन्दर्य, सुख और बल।¹¹ श्रीमद्भागवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने 'माँ नमस्कुरु' कहकर वंदन के लिए भक्तों को उत्प्रेरित किया है।¹²

चौथा आवश्यक प्रतिक्रमण

प्रतिक्रमण जैन परम्परा का एक विशिष्ट शब्द है जिसका शाब्दिक अर्थ है — पुनः लौटना। जब साधक अपनी मर्यादाओं का अतिक्रमण कर मर्यादाविहिन अवस्था में अथवा

स्वभाव-दशा से पदच्युत होकर विभाव-दशा में प्रवेश कर जाता है तब उसका पुनः स्वभाव रूपी सीमा में प्रत्यागमन करना प्रतिक्रमण है। जो पाप मन, वचन और काय (योग) से सम्पन्न हुए हों, दूसरे से करवाये गये हों और दूसरे के द्वारा किये गये पापों को अनुमोदित किया गया हो, की निवृत्ति हेतु किये गये समस्त पापों की आलोचना करना प्रतिक्रमण है। आचार्य हेमचन्द्र योगशास्त्र में तथा आचार्य हरिभद्र आवश्यक वृत्ति में लिखते हैं — “शुभयोगों में से अशुभ योगों में गये हुए अपने-आप को पुनः शुभ योगों में लौटा लाना प्रतिक्रमण है।¹³” साधना के क्षेत्र में मिथ्यात्व, अब्रत, प्रमाद, कषाय और अशुभ-योग, ये पाँच भयंकर दोष हैं। साधक प्रातः और संध्या के समय में अपने जीवन का गहराई से आत्मनिरीक्षण करता है, उस समय वह इस बात पर गहराई से चिन्तन करता है कि वह कहीं सम्यक्त्व के पथ से विचलित होकर मिथ्यात्व में तो नहीं उलझा है। तत्पश्चात् साधक निश्चय करता है — यदि मैं मिथ्यात्व, अब्रत, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग में प्रवृत्त हुआ हूँ, तो मुझे पुनः सम्यक्त्व, व्रत, अप्रमाद, अकषाय और शुभ योग में प्रत्यागमन होना चाहिए। इसी दृष्टि से प्रतिक्रमण सम्पन्न होता है। आचार्य भद्रबाहु आवश्यक निर्युक्ति में बतलाते हैं कि प्रतिक्रमण केवल अतीत काल में लगे दोषों की परिशुद्धि नहीं करता, प्रत्युत् वह वर्तमान तथा भविष्य के दोषों की भी परिशुद्धि करता है। अतीत काल में लगे दोषों की परिशुद्धि आलोचना प्रतिक्रमण में सम्पन्न हो जाती है। वर्तमान में साधक संवर-साधना में प्रवृत्त रहता है जिससे वह पापों से निवृत्त हो जाता है, साथ ही वह प्रतिक्रमण में प्रत्याख्यान ग्रहण करता है, परिणामस्वरूप भावी दोषों से भी बच जाता है। भूतकाल के अशुभ योग से निवृत्ति, वर्तमान में शुभ योग में प्रवृत्ति और भविष्य में भी शुभ योग में प्रवृत्ति करूँगा, इस प्रकार का वह संकल्प करता है।¹⁴

जैन धर्म में व्यवस्थित रूप में निशांत और दिवसान्त में जिस प्रकार साधकों के लिए प्रतिक्रमण का विधान अभिहित है, उसी प्रकार पाप-मुक्ति हेतु विधान का निरूपण अन्यान्य परम्पराओं में हुआ है। बौद्ध धर्म में प्रतिक्रमण के स्थान पर पाप-देशना, प्रवारणा और प्रतिकर्म प्रभृति शब्दों का प्रयोग हुआ है। उदान में तथागत बुद्ध ने कहा है — जीवन की निर्मलता एवं दिव्यता के लिए पाप देशना आवश्यक है। पापाचरण की आलोचना मन, वाणी और शरीर से जो भी दुराचरण हुआ हो, मैं उसका विसर्जन करता हूँ।¹⁶ पारसी धर्म में कहा गया है — मेरे मन में जो बुरे विचार समुत्पन्न हुए हों, वाणी से तुच्छ भाषा का प्रयोग हुआ हो और शरीर से जो अकृत्य किये हों, मैं उसके लिए पश्चात्ताप करता हूँ।¹⁷ वैदिक परम्परा में संध्या के द्वारा आचरित पापों के क्षय हेतु प्रभु से प्रार्थना की गई है जबकि ईसाई धर्म के प्रणेता प्रभु यीशु ने भी पाप को प्रकट करना आवश्यक माना है। इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रतिक्रमण जीवन-शुद्धि का श्रेष्ठतम उपाय है तथा सभी आध्यात्मिक परम्पराओं में किसी न किसी रूप में इसका निरूपण हुआ है।

यहां पर एक स्वाभाविक जिज्ञासा समुत्पन्न होती है कि प्रतिक्रमण की साधना में भूमिका क्या है? इस जिज्ञासा-निवृत्ति के समर्थन में कहा जा सकता है — साधक साधना

करते समय कषायों के वशीभूत होकर साधनाच्युत हो जाता है। कषायों के वशीभूत साधक अपने स्वरूप का परित्याग कर पर-स्वरूप को ग्रहण करता है। कषायों के निमित्त पर स्वरूप का ग्रहण ही विषमता को जन्म देता है। परिणामस्वरूप साधक अपने आध्यात्मिक आदर्श को भूल जाता है। कषायों के निमित्त उत्पन्न होने वाले दोषों के निवारणार्थ प्रतिक्रमण आवश्यक की प्रस्थापना हुई। इसमें साधक अपनी भूलों को सुधार कर अपनी वास्तविक स्थिति का परिज्ञान प्राप्त कर सकता है। जब साधक अपने द्वारा कृत्य दोषों का गहराई से अन्तर्निरीक्षण करता है तभी उसे अपनी वास्तविक अर्थात् भूल का परिज्ञान होता है। परिणामस्वरूप अपने दोषों का निराकरण कर साधक साधना के मार्ग पर दृढ़ता से आगे बढ़ता जाता है।

पांचवा आवश्यक है कायोत्सर्ग

आवश्यक सूत्र में प्रतिक्रमण के पश्चात् कायोत्सर्ग आवश्यक का विधान है। कायोत्सर्ग का शाब्दिक अर्थ है-शरीर का उत्सर्ग करना। यहां शरीर-त्याग का अर्थ है — शारीरिक चंचलता एवं देहासक्ति का त्याग। कायोत्सर्ग में गहराई से चिन्तन कर उन दोषों को नष्ट करने का उपक्रम किया जाता है जो प्रतिक्रमण में शेष रह जाते हैं। इसमें साधक बहिर्मुखी स्थिति से निकल कर अन्तर्मुखी स्थिति में पहुँचता है। प्रतिक्रमण से पापों की आलोचना हो जाने से चित्त पूर्ण रूप से निर्मल हो जाता है जिससे साधक धर्मध्यान और शुक्लध्यान से एकाग्रता पापों की आलोचना प्राप्त कर लेता है। इसीलिए कायोत्सर्ग को प्रतिक्रमण के पश्चात् रखा गया है। इसका प्रधान उद्देश्य है — आत्मा का सान्निध्य प्राप्त करना और सहज गुण है — मानसिक संतुलन बनाए रखना। मानसिक संतुलन बनाए रखने से बुद्धि निर्मल और शरीर पूर्ण स्वस्थ रहता है। स्वास्थ्य की दृष्टि से भी कायोत्सर्ग का अत्यधिक महत्त्व है, क्योंकि मन, शरीर और मस्तिष्क का गहरा सम्बन्ध है। जब तीनों में सामञ्जस्य नहीं होता है तभी स्नायविक तनाव व्युत्पन्न होता है। आचार्य भद्रबाहु के अनुसार वही कायोत्सर्ग विशुद्ध होता है जिसमें देव, मानव और तिर्यञ्च सम्बन्धी सभी प्रकार के उपसर्ग उपस्थित होने पर भी साधक उन्हें समभाव पूर्वक सहन करे।¹⁸

आचार्य जिनदास गणि महत्तर ने कायोत्सर्ग के दो भेद बतलाए हैं — द्रव्य कायोत्सर्ग और भाव कायोत्सर्ग। द्रव्य कायोत्सर्ग में सर्वप्रथम शरीर का निरोध किया जाता है। शारीरिक चंचलता तथा ममता का परित्याग कर जिन-मुद्रा में स्थित कायचेष्टा का निरुन्धन करना काय-कायोत्सर्ग है। तत्पश्चात् साधक धर्मध्यान और शुक्लध्यान में रमण करता है। मन को पवित्र विचार और संकल्प से बांधता है जिससे उसको किसी भी प्रकार की शारीरिक वेदना का अनुभव नहीं होता। वह काया में रहकर भी काया से अलग-थलग आत्मभाव में रहता है। यही भाव कायोत्सर्ग का भाव है। इस प्रकार का कायोत्सर्ग ही सभी प्रकार के दुःखों को नष्ट करने वाला है।¹⁹ कायोत्सर्ग को अनेक प्रयोजन से सम्पन्न किया जाता है जिसमें क्रोध, मान,

माया और लोभ का उपशमन इसका मुख्य प्रयोजन है। अमंगल, विघ्न और बाधा के परिहार के लिए भी कायोत्सर्ग का विधान है। इसे षडावश्यक में स्वतंत्र स्थान दिया गया है जो इस भावना को अभिव्यक्त करता है कि प्रत्येक साधक को प्रातः सन्ध्या के समय यह चिन्तन करना चाहिए— यह शरीर पृथक् है और मैं पृथक् हूँ। मैं अजर, अमर और अविनाशी हूँ। कायोत्सर्ग बैठकर, खड़ा होकर और लेटकर तीनों अवस्थाओं में किया जाता है।

छद्म आवश्यक है प्रत्याख्यान

प्रत्याख्यान का अर्थ है—त्याग करना। अविरति और असंयम के प्रतिकूल रूप में मर्यादा के साथ प्रतिज्ञा ग्रहण करना प्रत्याख्यान है। यदि स्पष्ट शब्दों में निरूपण करें तो मर्यादा के साथ अशुभ योग से निवृत्ति और शुभ योग में प्रवृत्ति का आख्यान करना प्रत्याख्यान है। आचार्य भद्रबाहु के अनुसार प्रत्याख्यान से संयम होता है, संयम से आश्रव का निरुन्धन होता है और आश्रव के निरुन्धन से तृष्णा का अन्त हो जाता है। तृष्णा के अन्त से उत्तम उपशमभाव समुत्पन्न होता है जिससे प्रत्याख्यान विशुद्ध होता है। उपशमभाव की विशुद्धि से ही चारित्र धर्म प्रकट होता है। सच्चरित्र से कर्म निर्जीर्ण होता है जिससे केवल ज्ञान और केवल दर्शन का दिव्य आलोक जगमगाने लगता है और शाश्वत मुक्ति रूप सुख प्राप्त होता है।²⁰ यद्यपि सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण तथा कायोत्सर्ग के द्वारा आत्मशुद्धि की जाती है तथापि अन्तर्मानस में आसक्ति के प्रवेश का भय बना रहता है। एतदर्थ आवश्यक सूत्र में प्रत्याख्यान का विधान अभिहित है। इससे साधक शुभयोग में प्रवृत्त होता है और सदगुणों को प्राप्त करता है। इस प्रकार प्रत्याख्यान में साधक मन, वचन और काय की अशुभ प्रवृत्तियों को रोककर शुभ प्रवृत्तियों में प्रवृत्त होता है। आश्रव का पूर्णरूपेण निरुन्धन होने से साधक पूर्ण निस्पृह हो जाता है जिससे उसे शान्ति प्राप्त होती है। प्रत्याख्यान से साधक के जीवन में अनासक्ति की विशेष जागृति होती है।

आवश्यक सूत्र में प्रतिपाद्य विषय के प्रासंगिकत्व को सुस्पष्ट करने के पूर्व उन पक्षों पर दृष्टिपात करना अनुचित नहीं होगा, जिसके द्वारा मानव अपने मूल स्वभाव से च्युत होता है। सम्पूर्ण आचार-दर्शन का सार समत्व-साधना है। समत्व हेतु प्रयास ही जीवन का सार तत्त्व है। सतत शारीरिक एवं प्राणमय जीवन के अभ्यास के कारण चेतना बाह्य उत्तेजनाओं एवं संवेदनाओं से प्रभावित होने की प्रवृत्ति विकसित कर लेता है। परिणामस्वरूप बाह्य वातावरणजन्य परिवर्तनों से प्रभावित होकर अपने सहज स्वभाव 'समत्व' का परित्याग कर देता है और संसार के प्रति ममत्व-भाव को पुष्ट करने की प्रवृत्ति विकसित कर लेता है। प्रवंचात्मक जगत के पदार्थों की उपलब्धि-अनुपलब्धि से स्वयं को सुखी-दुःखी समझता है। उसमें 'पर' के प्रति आकर्षण या विकर्षण का भाव समुत्पन्न होता है। वह उस 'पर' के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास करता है और परिणामस्वरूप वह वेदना, बंधन या दुःख को प्राप्त करता है। यह राग न केवल उसे समत्व के स्वकेन्द्र से पदच्युत करता है, प्रत्युत्

उसे बाह्य पदार्थों के आकर्षण क्षेत्र में लाकर उसमें एक तनाव व्युत्पन्न कर देता है जिसके परिणामस्वरूप चेतना दो केन्द्रों में बंट जाती है और दोनों ही स्तरों पर चेतना में दोहरा संघर्ष उत्पन्न होता है — प्रथम, चेतना के आदर्शात्मक पक्ष एवं वासनात्मक पक्ष में और द्वितीय उस बाह्य परिवेश के साथ जिसमें वह अपनी वासनाओं की पूर्ति चाहता है। मानव की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है जिसके प्रति वह आसक्ति रखता है वही उसके लिए 'स्व' तथा 'पर' के आविर्भाव का कारण है। नैतिक चिंतन में इन्हें 'राग' तथा 'द्वेष' की संज्ञा से अभिहित किया गया है। इसमें 'राग' आकर्षण का सिद्धान्त है जबकि 'द्वेष' विकर्षण का। इन्हीं के कारण चेतना में सदैव तनाव, संघर्ष अथवा द्वन्द्व चलता रहता है। यद्यपि चेतना अपनी स्वाभाविक शक्ति द्वारा सदैव ही साम्यावस्था के लिए प्रयासरत रहता है। लेकिन राग और द्वेष किसी भी स्थायी संतुलन को सम्भव नहीं होने देते। यही चेतना जब राग, द्वेष से युक्त हो जाती है, तो विभावदशा/विषमता को प्राप्त होती है। चित्त की विषमावस्था ही समग्र दोषों एवं अनैतिक आचरण की जन्मभूमि है। राग-द्वेष से उत्पन्न दोष ही व्यक्ति, परिवार, समाज, देश व विश्व का अहित करता है। यही कारण है कि भारतीय नैतिकता में राग-द्वेष से ऊपर उठना सम्यक् जीवन की अनिवार्य शर्त मानी गयी है।

नैतिक जीवन का लक्ष्य सदैव ही उस जीवन-प्रणाली को प्रतिष्ठित करना है जिसके द्वारा एक ऐसे मानव-समाज की संरचना हो सके, जो इन संघर्षों-आंतरिक मनोवृत्तियों का संघर्ष, आंतरिक इच्छाओं और उनकी पूर्ति के बाह्य प्रयासों का संघर्ष तथा बाह्य समाजगत एवं राष्ट्रगत संघर्ष से मुक्त हो। यद्यपि ये संघर्ष मानव द्वारा प्रसूत नहीं होते तथापि उसे प्रभावित करते हैं। जीवन का आदर्श 'समत्त्व' जीवन के अंदर है। उसे बाहर खोजना प्रवंचना है। यदि जीवन में स्वयं संतुलन बनाए रखने की प्रवृत्ति विद्यमान है, तो यह स्वीकार करना होगा कि जीवन का आदर्श समत्त्व है जिसकी उपलब्धि मानव स्वयं के प्रयासों से कर सकता है। समत्त्व-प्राप्ति मानव का स्वभाव है और जो स्वभाव है, वही आदर्श है, साध्य है, साथ ही आदर्श-प्राप्ति/राग-द्वेष द्वारा व्युत्पन्न समस्त संघर्षों की समाप्ति जिस आचरण द्वारा हो, वही नैतिक आचरण है। वही नैतिक आचरण अनुकरणीय है।

विभावावस्था से स्वभावावस्था की ओर प्रवृत्त होना साधना है अर्थात् बाह्य दृष्टि का परित्याग कर अन्तर्दृष्टि में प्रतिष्ठित होना साधना है। साधना में साध्य और साधक का स्थान सर्वोपरि है। आत्मा की अपूर्णावस्था ही साधकावस्था है जबकि उसकी पूर्णावस्था साध्य है। मानव की मूलभूत क्षमताएँ साध्य और साधक दोनों ही अवस्थाओं में सम रहती हैं। अन्तर इसमें क्षमताओं का नहीं, प्रत्युत् क्षमताओं को योग्यताओं में परिणत कर देने का है। यहां पर स्वाभाविक जिज्ञासा समुत्पन्न होती है कि आवश्यक सूत्र में प्रतिपाद्य आचरण का नैतिक साधना में क्या महत्त्व है? इसके आचार पालन से मानव साधक से साध्य में परिणत होकर क्या समस्त विषमताओं से निवृत्ति पा सकता है? इसके लिए अति उत्तम होगा कि पूर्व विवेचित षडावश्यकों पर पुनः दृष्टिपात करें। आवश्यक सूत्र में सर्वप्रथम सामायिक का

तुलसी प्रज्ञा अक्टूबर — दिसम्बर, 2003

प्रतिपादन किया गया। इसका उद्देश्य था समता की प्राप्ति। समता से तात्पर्य है-मन की स्थिरता, राग-द्वेष का उपशमन, सुख-दुःख में निश्चल रहना और समभाव में उपस्थित होना। कर्मों के निमित्त से राग-द्वेष के विषम भाव उत्पन्न होते हैं। उन विषमताओं से अपने-आपको हटाकर स्व-स्वरूप में रमण करना समता है। समता में साधक आत्मशक्तियों को केन्द्रित कर अपनी स्वाभाविक शक्ति को प्रकट करता है। इनकी अनुपस्थिति में ही द्वन्द्व और तनाव के वातावरण का सृजन होता है, परिणामतः प्रकृति में विकृति, व्यक्ति में तनाव, समाज में विषमता, युग में हिंसा आदि तत्त्वों का उदय होता है। इनकी निवृत्ति हेतु ही अहिंसा, समता प्रभृति सद्गुणों से युक्त श्रेष्ठ आचरण अर्थात् सामायिक-साधना सम्पन्न की जाती है। सामायिक-साधना व्यक्ति, जाति, समाज अथवा राष्ट्र तक सीमित नहीं है प्रत्युत् सभी के लिए है। इसके आचरण से जीवन के विविध पक्षों में समन्वय स्थापित होता है जिससे न केवल व्यक्तिगत जीवन का संघर्ष समाप्त होता है, प्रत्युत् सामायिक जीवन के संघर्ष भी नष्ट हो जाते हैं। फलतः शान्ति, अहिंसा, एकता प्रभृति की परिवार, समाज व राष्ट्र में पुनर्प्रतिष्ठा होती है।

समत्वयोगी साधक भी वैचारिक जगत के संघर्ष के प्रति उदासीन होता है और उसमें उसकी भोगासक्ति नहीं होती है। वह तो उस उदात्त भाव का पोषक है जो 'जीओ और जीने दो' के सिद्धान्त में विश्वास रखता है। समत्व को जीवन में उतारने के पश्चात् व्यक्ति चतुर्विंशतिस्तव के माध्यम से महापुरुषों के गुणों का उत्कीर्तन करता है और उसको जीवन में धारण करता है। इससे व्यक्ति के हृदय में आध्यात्मिक ऊर्जा का संचार होता है। उसके सामने त्याग-वैराग्य की ज्वलन्त प्रतिकृति होती है जिससे उसके समस्त अवगुणों का क्षय होता है, परिणामतः वह स्वयं में निहित शक्ति का साक्षात्कार करता है। ध्यातव्य है कि ये तीर्थंकर कोई मुक्तिदाता नहीं हैं प्रत्युत् वे आदर्श मात्र हैं। इस आदर्श की छत्र-छाया में साधक को अपने में निहित शक्ति की सम्प्राप्ति हेतु स्वयं पुरुषार्थ करना आवश्यक है। इससे ही साधक की श्रद्धा परिमार्जित होती है, सम्यक्त्व विशुद्ध होता है और कष्टों को समान भाव से सहन करने की शक्ति विकसित होती है। साथ ही जीवन के सर्वोच्च आदर्श को प्राप्त करने की प्रेरणा मन में उद्बुद्ध होती है। तत्पश्चात् वंदना का विधान है। इसमें साधक मन, वचन और शरीर से सद्गुण, गुरु का स्तवन तथा अभिवादन करता है। वंदन से साधक का अहंकार विनष्ट होता है जिससे उसे विनय की उपलब्धि होती है। विनय से ही व्यक्ति का हृदय सरल बनता है और सरल हृदय वाला व्यक्ति ही स्वयं द्वारा कृत दोषों की आलोचना कर सकता है। सरल हृदय में ही समत्व-साधना सम्पन्न हो सकती है। इसी के निमित्त वंदना के पश्चात् आवश्यक सूत्र में प्रतिक्रमण का निरूपण हुआ है। यह जीवन को सुधारने का श्रेष्ठतम उपाय है। मानव की यह स्वाभाविक प्रकृति है कि वह अपने सद्गुणों को तो सदा स्मरण रखता है किन्तु दुर्गुणों को भूल जाता है। लेकिन जब साधक अपने जीवन का गहराई से निरीक्षण करता है तो उसे अपने जीवन में असंख्य दुर्गुण दिखाई देते हैं। इससे निवृत्ति हेतु आत्मदोषों की आलोचना आवश्यक है। आलोचना से पश्चात्ताप की भावना का उदय होता है। इसमें दोष विनष्ट हो जाते हैं। चतुर्विंशतिस्तव, वंदना तथा प्रतिक्रमण सूत्र में कायोत्सर्ग का विधान अभिहित हुआ। कायोत्सर्ग

का प्रधान उद्देश्य है-आत्मा का सात्रिध्य प्राप्त करना। कायोत्सर्ग से शरीर को पूर्ण विश्रान्ति प्राप्त होती है और मन में अपूर्व शान्ति का अनुभव होता है। इसमें क्रोध, माया और लोभ का उपशमन एवं अमंगल, विघ्न और बाधा का परिहार होता है। चूंकि अस्थिर चित्त में आसक्ति और तृष्णा के प्रवेश की सम्भावना सदैव ही वर्तमान रहती है जिससे शान्ति स्थापना में विघ्न उत्पन्न होता है और समत्व के भंग होने की सम्भावना रहती है। एतदर्थ तन और मन की स्थिरता सम्पन्न हो जाने के पश्चात् आवश्यक सूत्र में प्रत्याख्यान का विधान अभिहित हुआ है। इसमें मानव-प्रवृत्ति को अशुभ योगों से विस्थापित कर शुभ योगों में केन्द्रित किया जाता है। प्रवृत्ति को शुभयोग में केन्द्रित करने से इच्छाओं का निरन्धन हो जाता है, तृष्णाएँ शान्त हो जाती हैं जिससे साधक को शान्ति उपलब्ध होती है। प्रत्याख्यान से साधक के जीवन में अनासक्ति की विशेष जागृति होती है। इसमें वह जिन पदार्थों को ग्रहण करने की छूट रखता है, उन पदार्थों को भी ग्रहण करते समय आसक्त नहीं होता अर्थात् उसके अन्तर्मानस में समस्त भौतिक पदार्थों के प्रति अनासक्ति का भाव समुत्पन्न होता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि आवश्यक सूत्र में प्रतिपाद्य आचार का मानव जीवन में प्रभूत माहात्म्य है। इसमें मानव के ऐहिक मूल्यों-एकता, अहिंसा, समभाव, नम्रता, संयम, शान्ति प्रभृति सद्गुणों का निरूपण हुआ है, जिसका अनुगमन कर मानव अपने समस्त द्वन्द्वों, विषमताओं, हिंसाजन्य तनावों से निवृत्ति पा सकता है और अपने जीवन में सुख, शान्ति, स्थिरता आदि को प्रतिष्ठित कर सकता है। साथ-ही-साथ परिवार, समाज तथा राष्ट्र में राग-द्वेष समुत्पन्न स्वार्थपरता, विषमता, संघर्ष, हिंसा, तनाव आदि तत्त्वों को विनष्ट कर एकता, समता, अहिंसा प्रभृति सद्गुणों को प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

ध्यातव्य है कि अब तक आवश्यक सूत्र के आचार के उन पक्षों की विवेचना हुई, जिसमें प्राणी अपने स्व-स्वरूप का परित्याग कर पर-स्वरूप को ग्रहण करता है। तत्पश्चात् स्व से पर की ओर च्युत होने के मूल कारण (राग-द्वेष) की खोज कर उसके निरन्धन के मार्ग को स्पष्ट करते हुए विभावावस्था से स्व-स्वभावावस्था की ओर प्रतिगमन की अवस्थाओं का निरूपण करता है। अब वर्तमान परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में भी षडावश्यकों की उपादेयता एवं भूमिका की विवेचना आवश्यक हो जाती है। वर्तमान में मानव भौतिकता की आंधी में बहिर्मुखी बनकर उन जीवन-मूल्यों का परित्याग कर रहा है जिससे वह सुख, समृद्धि, शान्ति, विनयशीलता, एकता, समता, संयम प्रभृति सद्गुणों को प्राप्त करता है। मानव बहिर्मुखी बनकर विषमता, हिंसा, संघर्ष, स्वार्थपरता, अन्याय, अत्याचार, भ्रष्टाचार इत्यादि को अपना रहा है जिससे वह स्वयं अशान्त व व्यथित है। परिवार, समाज व राष्ट्र परेशान है, चिंतित है। यह प्रगति नहीं है प्रत्युत् प्रगति के नाम पर विकसित होने वाला भ्रम है। आज आवश्यकता है, जो अतिक्रमण हुआ है उससे पुनः वापस लौटने की। उन जीवन मूल्यों के पुनर्स्थापन की जिसके अतिक्रमण से वर्तमान परिस्थिति उत्पन्न हुई है।

ध्यातव्य है कि समस्त परिस्थितियों का मूल उत्स राग-द्वेष है। राग-द्वेष के निमित्त ही प्राणी अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति का परित्याग कर भौतिक पदार्थों के साथ सम्बन्ध स्थापित

करता है जिससे वह उक्त परिस्थितियों को प्राप्त होता है। इन परिस्थितियों के परिहार के लिए आवश्यक है कि राग-द्वेष का निरुन्धन हो जाए और राग-द्वेष का निरुन्धन केवल 'समत्व-प्राप्ति' की अवस्था में सम्भव है जिसका विस्तृत विवेचन इस शोध लेख में है। यदि पूर्व विवेचित समस्त तथ्यों का पुनः अवलोकन किया जाये तो यह स्पष्ट हो जाता है कि आवश्यक सूत्र में प्रतिपादित आचार सभी स्तरों पर, सभी परिस्थितियों में पूर्णतः प्रासंगिक है।

सन्दर्भ सूची —

1. अनुयोगद्वार चूर्णि, पृ. 14
2. अनुयोगद्वार मल्लधारीय टीका, पृ. 28
3. जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग-2, पृ. 313, (नियमसार, 125 से उद्धृत)
4. जैन, बौद्ध गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग-2, पृ. 313, (उत्तराध्ययन, 11/10-11 से उद्धृत)
5. हरिभद्र अष्टक-प्रकरण, 30-1
6. संयुक्त निकाय 1/1/8
7. सुत्तनिपात 3/37/7
8. श्रीमद्भागवद्गीता 5/11
9. गीता शांकर भाष्य 6/62
10. आवश्यक निर्युक्ति 1109
11. धम्मपद, 101
12. श्रीमद्भागवद्गीता 18/65
13. योगशास्त्र, तृतीय प्रकाश, स्वपज्ञोवृत्ति।
14. आवयक निर्युक्ति, आचार्य भद्रबाहु
15. उदान 5/5 अनुवादक जगदीश काश्यप, महाबोधिसभा, सारथा
16. कृष्ण यजुर्वेद-दर्शन और चिन्तन: भाग-2, पृ. 192 से उद्धृत
17. खोरदेह अवेस्ता, पृ. 5/23-24
18. आवश्यक निर्युक्ति गाथा 1549
19. उत्तराध्ययन 26-42
20. आवश्यक निर्युक्ति, गाथा 1594-96 ।

दर्शन एवं धर्म विभाग,
कला संकाय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी-221005

अर्द्धमागधी आगमों में संस्कार

डॉ. श्रीमती राजेश्वरी मिश्र 'राजश्री'

जो प्रतिष्ठा सनातन धर्म में वेद और बौद्ध परम्परा में त्रिपिटकों को प्राप्त है, वही प्रतिष्ठा जैनधर्म परम्परा में आगम सिद्धान्त को प्राप्त है। आगम से तात्पर्य आचारांगादि अंगग्रन्थों तथा औपपातिकादि अंगबाह्य ग्रन्थों से है। आगमों को श्रुत, सूत्र, ग्रन्थ, सिद्धान्त, शासन, आज्ञा वचन, उपदेश, प्रज्ञापना अथवा प्रवचन भी कहा गया है।

जैन आगम धर्म-दर्शन, ज्ञान-विज्ञान के अक्षयस्रोत है। जैन धर्म का सारा स्वरूप जन-कल्याण के सन्दर्भ में केन्द्रित है। धर्म से संस्कृति का निर्माण होता है और जहाँ धर्म होता है, वहीं कल्याण होता है। जैन सूत्रों के अनुसार भगवान् महावीर ने स्वयं कुछ नहीं लिखा, उन्होंने अर्द्धमागधी में अपना उपदेश दिया और इन्हीं उपदेशों एवं विचारों को उनके गणधरों ने आधार बनाकर आगमों की रचना की। भगवान् महावीर ने अर्द्धमागधी में ही अपना उपदेश दिया और यह अर्द्धमागधी सर्वजन-बोधगम्य थी।

जैन आगमों की संख्या 46 स्वीकार की गई है, जिनमें से 45 ही उपलब्ध होते हैं—12 अंग, 12 उपांग, 10 पड़ना (चतुःशरात्र), 6 छेयसुत्त (छेदसूत्र), 4 मूलसूक्त (मूलसूत्र) और नान्दी। आगम साहित्य में अनेक पद्धतियों का वर्णन है। यह आलेख जैन आगम साहित्य में संस्कारों को इंगित कर लिखा गया है।

सम् उपसर्ग पूर्वक कृ धातु से करण या भाव में घञ् प्रत्यय करने पर संस्कार शब्द निष्पन्न होता है। संस्क्रियतेऽनेन इति संस्कारः अर्थात् वह क्रिया जिससे शरीर का मलापनयन, अतिशय गुणाधान या पाप क्षय होता है। जैसे साधारण पत्थर भी संस्कारित होकर देवत्व को प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार मानव भी संस्कारों से प्रतिभा-सम्पन्न तथा अलौकिक व्यक्तित्व को धारण कर लेता है। सुसंस्कार जीवन

की आधारशिला है। आचारहीन व्यक्ति को तो वेद भी पवित्र नहीं कर सकते “आचारहीन न पुनन्ति वेदाः”। अतः संस्कारों से संस्कारित व्यक्ति का जीवन ऐहलौकिक एवं पारलौकिक दोनों दृष्टियों से श्रेष्ठ माना गया है।

जैन आगम साहित्य में मात्र संस्कारों का ही चित्रण नहीं है, सच तो यह है कि विपुल साहित्य में हजारों वर्षों की जैन परम्पराएँ संग्रहीत हैं, जिनमें धर्म-दर्शन, श्रमण, आचार-विचार, मंत्रविद्या, विभिन्न शास्त्रीय ज्ञान और विभिन्न गुणों की धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनैतिक गतिविधियाँ संकलित की गई हैं, जैसे-बौद्ध धर्म के आधारभूत वाङ्मय त्रिपिटक का संकलन करने के लिए राजगृह, वैशाली एवं पाटलीपुत्र में समय-समय पर संगीतियाँ आयोजित की गई, ठीक उसी प्रकार जैन आगमों के संकलन हेतु भी अनेक वाचनाओं का आयोजन किया गया। आगमों की पहली वाचना पाटलीपुत्र में, दूसरी वाचना मथुरा में और तीसरी वाचना वल्लभी में सम्पन्न हुई। इस प्रकार पाँचवी शती ई. में आयोजित वल्लभी वाचना में ही जैन आगमों का स्वरूप निश्चित कर उनको ग्रन्थ का रूप दिया गया। यह भी माना जाता है कि गणधरों द्वारा संकलित लगभग एक हजार वर्ष के अन्तराल में विकसित आगमों के मूल पाठों में अनेक परिवर्तन एवं संशोधन होते रहे हैं जिनका प्रमाण आचार्य अभयदेव की स्थानांग टीका में उपलब्ध होता है।

जैन आगमों का प्रतिपाद्य अत्यन्त विस्तृत एवं विविध है, इसलिए प्रस्तुत निबन्ध में मात्र संस्कारों के सन्दर्भ में चर्चा की जा रही है। जैसे वेदार्थ का अनुगमन करने वाली स्मृतियों में गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि तक षोडश संस्कारों का विवेचन प्राप्त होता है, उसी प्रकार जैन आगम साहित्य में भी इन संस्कारों का विस्तृत विवेचन मिलता है। गर्भवती महिला का विस्तृत वर्णन ज्ञातृधर्म कथा में उपलब्ध होता है। गर्भिणी महिलाएं गर्भ की रक्षा के लिए अत्यन्त सतर्क रहती हैं। वे स्थान और समय के अनुसार हित अर्थात् कल्याणकारक, मित अर्थात् अल्प मात्रा वाला तथा पथ्य अर्थात् स्वास्थ्यवर्धक भोजन ही किया करती थीं। बहुत अधिक कड़वा, खट्टा और मीठा भोजन उनके लिए वर्जित था। वे अत्यधिक चिन्ता, व्यथा, दीनता, मोह, भय और संत्रास से भी दूर रहती थी। गंध, माल्य तथा अलंकारों का सेवन उनके लिए उपयुक्त माना जाता था।

जैन आगमों में गर्भिणियों के दोहदों का भी वर्णन मिलता है। दोहद का अर्थ है गर्भिणी के मन में किसी विशेष इच्छा का जागृत होना। इस प्रकार का दोहद प्रायः गर्भ के दो तीन महीने बीत जाने पर उत्पन्न होता था। राजा श्रेणिक की रानी धारिणी देवी को गर्भावस्था के तीसरे महीने में अकाल मेघ वर्षा का दोहद उत्पन्न हुआ। इसी प्रकार श्रेणिक की दूसरी रानी चेलणा देवी को यह दोहद हुआ कि वह अपने ही पति के उदर का माँस भून और तलकर भक्षण करे। इसी प्रकार अनेक दोहदों का उल्लेख जैन आगमों की टीकाओं में उपलब्ध होता है।

संस्कारों की परम्परा में पुंसवन, पुत्रजन्म, नामकरण और कर्णबोध आदि अगले चरण में आते हैं। इन सबका विस्तृत विवरण हमें जैन आगमों में मिलता है। नौ महीने और साढ़े सात दिन पूर्ण होने पर महाराज श्रेणिक की रानी धारिणी देवी ने मेघकुमार को जन्म दिया। पुत्र प्राप्ति का समाचार सुन नरेश ने मुकुट मात्र को छोड़कर अपने सारे अलंकरण दास-दासियों में बाँट दिये। इतना ही नहीं, कारागार में बँधे अपराधियों को भी छोड़ दिया और दस दिन तक स्थितिपतिता उत्सव मनाने का आदेश दिया गया। पुत्र जन्म के पहले दिन जातकर्म संस्कार सम्पन्न हुआ। आवश्यक चूर्णी में अभ्यङ्गन (तेलमालिश), स्नापन, अग्निहोम, भूतिकर्म, रक्षापोटलीबन्धन (ताबीज बाँधना) तथा शिशुओं के कानों में टी-टी की ध्वनि करने का उल्लेख मिलता है। पुत्र जन्म के दूसरे दिन जागरिका (जागरण) और तीसरे दिन चन्द्र-सूर्य दर्शन उत्सव मनाया जाता था। ग्यारहवें दिन सूतक की समाप्ति मनाई जाती थी और स्वजनों, सम्बन्धियों को भोजनार्थ आमन्त्रित किया जाता था। इसके पश्चात् ही बालक का नामकरण होता था। ज्ञातृधर्म कथा, कल्पसूत्र तथा औपपातिक में इन समस्त संस्कारों का रमणीय चित्रण देखने को मिलता है।

वैदिक स्मृतियों में जहाँ दो संस्कारों के बीच प्रभूत अवकाश मिलता है, वहीं जैन आगमों में वर्णित संस्कारों में क्रमिक विकास परिलक्षित होता है। बच्चा जब घुटनों के बल चलने लगता था तब परंगमण संस्कार, जब पैरों पर चलने लगता था तो चंक्रमण संस्कार, जब पहली बार बोलना सीखता था तो प्रजल्पन संस्कार और जब उसके कान बंधे जाते थे तब कर्णभेदन संस्कार मनाया जाता था। स्मृतियों में अन्नप्राशन और कर्णबोध का उल्लेख तो है परन्तु परंगमण, चंक्रमण तथा प्रजल्पन की चर्चा नहीं मिलती। अन्नप्राशन को जैन आगमों में जेनामण संस्कार कहा गया है। व्याख्या-प्रज्ञप्ति में संवत्सरण प्रतिलेखन (वर्षगाँठ), चोलोपण (चूड़ाकर्म), उपनयन और कला-ग्रहण आदि संस्कारों का विवरण मिलता है। शिशुचर्चा का अत्यन्त रोचक एवं सूक्ष्म चित्रण जैन आगमों में उपलब्ध होता है। ऐश्वर्य सम्पन्न लोग बच्चों के पालन-संवर्धन हेतु कुशलधाय रखते थे, ये धाइयाँ बच्चों को दूध पिलाती थीं। दूध पिलाने वाली धाय यदि स्थविर हो और उसके वक्ष से कम दूध आता हो तो बच्चा वृक्ष के समान पतला रह जाता है और यदि वक्ष स्थूल हो, यदि उनमें दूध का प्रवाह मन्द हो तो बच्चा कमजोर रह जाता है। इसी प्रकार जैन आगमों में स्नान कराने वाली, साज-सज्जा कराने वाली, गोद में रखने वाली धाइयों के भी गुण-दोषों की भरपूर चर्चा की गई है। जैसे यदि धाय स्थूल कटि वाली हो तो बच्चे के पैर फैल जाते हैं, यदि शुष्क कटि वाली हो तो बच्चे की कटि भग्न हो जाती है। धाय का स्वर यदि धीमा हो तो बच्चा तुतलाने लगता है या गूँगा हो जाता है और धाय का स्वर प्रचण्ड हो तो बच्चा भी जोर से बोलने लगता है। शैशव से जुड़े हुए ये व्यावहारिक सत्य जैन आगमों में अत्यन्त सूक्ष्मता के साथ वर्णित किये गये हैं।

जैन आगमों में विवाह संस्कार का भी विस्तृत वर्णन मिलता है। यद्यपि इन अगमों में विवाह आधारशिलाभूत नारी के पक्ष-विपक्ष दोनों की ही भरपूर उक्तियाँ मिलती हैं तथापि स्त्रीत्व को निर्वाण सिद्धि में बाधक नहीं माना गया है। आर्या चन्दना भगवान् महावीर की प्रथम शिष्या थी, जिन्होंने सम्यक् चरित्र का पालन करते हुए मोक्ष की प्राप्ति की थी। तेरापन्थ के दशम आचार्य महाप्रज्ञ ने आर्या चन्दना को ही लक्षित कर “अश्रुवीणा” नामक ललित काव्य प्रणीत किया है। जयन्ति कौशाम्बी के राजा शतानीक की बहन थी, जो वैभव विलास को त्यागकर साध्वी बन गई थी। व्याख्याप्रज्ञप्ति में उसका विस्तृत वर्णन मिलता है। ज्ञातृधर्म कथा और श्रुतस्कन्ध आदि जैनसूत्रों में ब्राह्मी, सुन्दरी तथा मृगावती आदि महिलाओं के उल्लेख मिलते हैं, जिन्होंने सांसारिक सुखों को त्याग कर सिद्धि प्राप्त की।

जैन आगमों में तीन प्रकार के विवाहों का उल्लेख मिलता है। वर-वधू के माता-पिता द्वारा आयोजित विवाह जो स्मृतियों में उल्लिखित प्राजापत्य विवाह के सर्वथा समकक्ष है। अन्य दो स्वयंवर और गान्दर्भ कोटि के बताए गए हैं। जैन आगमों में स्पष्ट किया गया है कि विवाह समान स्थिति, समान व्यवसाय वाले लोगों में होना चाहिए, क्योंकि निम्न जातिगत तत्त्वों के सम्मिश्रण से कुछ की प्रतिष्ठा भंग हो जाती है। इस प्रकार जैन आगमों में भी सवर्ण विवाह को ही वरीयता प्रदान की गई है। ज्ञातृधर्म कथा के अनुसार श्रेणिक के पुत्र मेघकुमार ने समान रूप-गुण और राजवंश वाली आठ राजपुत्रियों से विवाह किया था। मनुस्मृति की तरह जैन आगमों में प्रतिलोम विवाह के भी उदाहरण भरे पड़े हैं। कन्या को विवाह के अवसर पर जो सामग्री मिलती थी, उसे जैन आगमों में प्रीतिदान कहा गया है। प्रीतिदान के सन्दर्भ में भी अत्यन्त रोचक सूचनाएँ जैन आगमों में मिलती हैं। ऐसे ही उदाहरण मिलते हैं जब कन्या को स्वयं विवाहार्थ वर के घर जाना पड़ता था परन्तु सामान्यतः वर ही विवाहार्थ कन्या के घर आता था। स्वयंवर और गान्दर्भ विवाहों के वर्णन जैन आगमों में प्रायः वैसे ही हैं, जैसे कि स्मृतियों में।

उपर्युक्त तीन विवाहों के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रकार के विवाहों का जैन आगमों में उल्लेख हुआ है, जो प्रायः वैदिक परम्परा में मान्य नहीं है, जैसे मातुदुहिता अर्थात् ममेरी बहन के साथ विवाह होना। इस प्रकार विवाह गुजरात और दक्षिण में तो मान्य था परन्तु उत्तर भारत में निषिद्ध माना जाता था। निशीथचूर्णि पिठिका, पिण्डनिर्युक्ति टीका तथा आवश्यक चूर्णि में मामा, बुआ तथा मौसी की लड़की से विवाह होने का उल्लेख मिलता है। विवाह सन्दर्भ में जैन आगम साहित्य में भी घर-जंवाई की प्रथा, बहु-पत्नीत्व की प्रथा, विधुर, विधवा विवाह की प्रथा, नियोग की प्रथा, सतीप्रथा और पर्दे की प्रथा का अत्यन्त विस्तृत वर्णन मिलता है।

अन्त्येष्टि संस्कार जीवन का अन्तिम संस्कार माना जाता है। आवश्यकचूर्णि में अन्त्येष्टि क्रिया का विस्तृत वर्णन मिलता है। शव को चन्दन, अगुरु, घृत और मधु आदि डालकर

जलाया जाता था। दाहकर्म करने के पश्चात् उसके ऊपर चैत्य अथवा स्तूप बनवाने की परम्परा थी। बृहदकल्पभाष्य टीका में अनाथ मृतक की हड्डियों को घड़े में रखकर गंगा में प्रवाहित किये जाने का उल्लेख मिलता है। महानिशीथ नामक ग्रन्थ में यह भी वर्णन है कि शव को पशु-पक्षियों के भक्षणार्थ जंगल में रख दिया जाता था। औपपातिक सूत्र में वर्णित है कि लोग अपनी पीठ अथवा पेट पर अलक्तक का लेपकर स्वयं को गिद्धों को खिला देते थे। मुर्दों को गाड़ देने की परम्परा थी। आचारांगचूर्णि, निशीथसूत्र और निशीथभाष्य के प्रमाणानुसार यह परम्परा यवन देशों में प्रचलित थी। जैन श्रमणों के निहर्ण (अन्त्येष्टि) क्रिया का विस्तृत उल्लेख छेदसूत्रों में मिलता है। इस प्रकार जैन आगम साहित्य में वर्णित अन्त्येष्टि लोक में प्रचलित विविध मृतक क्रियाओं का निदर्शन करती है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जैन आगमों में वर्णित संस्कार न केवल स्मृतियों में उल्लिखित संस्कारों को परिपुष्ट करते हैं बल्कि उनकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्यावहारिक गतिविधियों का भी चित्रण करते हैं, जो कि तात्कालीन समाज में प्रचलित थी।

जैन आगमों में वर्णित संस्कारों का दूसरा वैशिष्ट्य है उनकी सर्वव्यापकता। ये आगम श्रमण संस्कृति के साथ-साथ अन्यान्य सम्प्रदायों तथा देश-देशान्तरों के भी सजातीय संस्कारों का दृष्टान्त सहित विवरण प्रस्तुत करते हैं। जिससे उन संस्कारों का ऐतिहासिक क्रमिक विकास समझ में आ जाता है। यद्यपि इस लघु आलेख में समस्त संस्कारों का सांगोपांग विवरण नहीं हो पाया है। फिर भी जैन आगमों का संस्कार सम्बन्धी वैशिष्ट्य रेखांकित हो जाता है, विशेषकर शैशव से जुड़े संस्कार तो आज भी अत्यन्त प्रासांगिक प्रतीत होते हैं।

द्वारा प्रो. राजेन्द्र मिश्र

कुलपति

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

वाराणसी (उत्तरप्रदेश)

क्या विद्युत् (इलेक्ट्रीसीटी) सचित तेउकाय है ?

जैन दर्शन एवं विज्ञान - दोनों आधारों पर विद्युत् यानी 'इलेक्ट्रीसीटी' सचित तेउकाय है या नहीं - इस विषय में मीमांसा की गई थी। उसी शृंखला में प्रस्तुत अंक में, 'अग्नि' के विषय में जैन आगम एवं जैन दर्शन और विज्ञान की मान्यताओं के विषय में विश्लेषण किया गया है तथा साथ में आकाशीय विद्युत्, इलेक्ट्रीक बल्ब, ट्यूब लाईट आदि के विषय में भी सभी दृष्टियों से प्रकाश डाला गया है। लेखक ने जहां जैन आगम-साहित्य का गहराई से अवगाहन किया है वहां स्वयं वैज्ञानिक होने के नाते आधुनिक विज्ञान की सभी अवधारणाओं को गहराई से समझ कर प्रस्तुत किया है। टिप्पण में सभी उद्धरणों को विस्तार से उद्धृत किया गया है जिससे पाठक विषय की पूर्ण जानकारी प्राप्त कर सके।

इसी लेख की तीसरी कड़ी अगले अंक में प्रकाश्य है जिसमें विषय से सम्बद्ध अन्य विद्वानों के विचारों की समीक्षा एवं शंका-समाधान किया जाएगा। आशा है, सुधी पाठक इस समग्र लेख का पूर्वाग्रह-रहित अध्ययन करेंगे।

— सम्पादक

6. अग्नि का स्वरूप

जैन दर्शन में तेउकाय (अग्नि) के जीव

जैन दर्शन के अनुसार पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेउकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक — ये छह प्रकार के जीव होते हैं। आचारांग⁶², दशवैकालिक⁶³ प्रज्ञापना⁶⁴ आदि में इनका विस्तृत वर्णन उपलब्ध है। तेउकायिक जीव वे जीव हैं जिनका शरीर अग्नि के रूप में होता है।

आचारांग सूत्र में तेउकायिक जीवों के अस्तित्व को दृढ़तापूर्वक स्वीकार करते हुए बताया गया है - “जो अग्निकायिक जीव-लोक के अस्तित्व को अस्वीकार करता है, वह अपनी आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार करता है।”⁶⁵ सूक्ष्म तेउकायिक जीव सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं तथा सूक्ष्मता के कारण अप्रतिहत होते हैं। बाहर तेउकायिक जीव के भिन्न-भिन्न प्रकारों का वर्णन यत्किञ्चित् भिन्नता के साथ मिलता है। दशवैकालिक सूत्र में उसके आठ प्रकार बतलाए हैं — 1. अग्नि, 2. अंगारे, 3. मुर्मुर् 4. अर्चिं, 5. ज्वाला 6. अलात 7. शुद्धाग्नि 8. उल्का⁶⁶। प्रज्ञापना सूत्र में उसके 12 भेद मिलते हैं — 1. अंगारे 2. ज्वाला 3. मुर्मुर् 4. अर्चिं 5. अलात 6. शुद्धाग्नि 7. उल्का 8. विद्युत् 9. अशनि 10. निर्घात 11. संघर्ष समुत्थित 12. सूर्यकांतमणि निसृत⁶⁷। दशवैकालिक सूत्र के व्याख्या ग्रंथों के आधार पर आचार्य महाप्रज्ञ ने इनके अर्थ इस प्रकार किए हैं⁶⁸—

- (1) **अग्नि (अग्निं)** — लोह-पिंड में प्रविष्ट स्पर्शग्राह्य तेजस् को अग्नि कहते हैं।⁶⁹
- (2) **अंगारे (इंगालं)**— ज्वालारहित कोयले को अंगार कहते हैं। लकड़ी का जलता हुआ धूम-रहित खण्ड।⁷⁰
- (3) **मुर्मुर् (मुम्मुर्)**— कड़े या करसी की आग, तुषाग्नि—चोकर या भूसी की आग, क्षारादिगत अग्नि को मुर्मुर् कहते हैं। भस्म के विरल अग्नि कण मुर्मुर् हैं।⁷¹
- (4) **अर्चिं (अर्च्चिं)** — मूल अग्नि से विच्छिन्न ज्वाला, आकाशानुगत परिच्छिन्न अग्निशिखा, दीपशिखा के अग्रभाग को अर्चिं कहते हैं।⁷²
- (5) **ज्वाला (जालं)** — प्रदीप्ताग्नि से प्रतिबद्ध अग्निशिखा को ज्वाला कहते हैं।⁷³
- (6) **अलात (अलायं)** — अधजली लकड़ी⁷⁴
- (7) **शुद्ध अग्नि (सुद्धाग्निं)** — ईंधन रहित अग्नि⁷⁵
- (8) **उल्का (उक्कं)** — गगनाग्नि—विद्युत् आदि।⁷⁶

पणवणा सूत्र की टीका में आचार्य मलयगिरि ने कुछ-कुछ भिन्न अर्थ किए हैं—⁷⁷

1. अंगारे— धूम-रहित
2. ज्वाला — जाज्वल्यमान खदिर आदि (लकड़ी) की ज्वाला अथवा अग्नि से प्रतिबद्ध दीपशिखा ।
3. मुर्मुर् — भूसी आदि की भस्म-मिश्रित अग्निकण रूप ।
4. अर्चि — अग्नि से प्रतिबद्ध ज्वाला ।
5. अलात — अधजली लकड़ी ।
6. शुद्धाग्नि — लोह-पिंड में प्रविष्ट अग्नि ।
7. उल्का — आकाशीय पिंड-खंड के पतन से उत्पन्न अग्नि ।
8. विद्युत् — आकाशीय बिजली का चमकना ।
9. अशनि — आकाशीय बिजली के गिरने वाले अग्निमय कण ।
10. निर्घात — वैक्रिय अशनिपात ।
11. संघर्षसमुत्थित — अरणी आदि लकड़ी के निर्मथन से समुद्भूत ।
12. सूर्यकांतमणिनिःसृत — सूर्य की प्रखर किरणों का सम्पर्क होने पर सूर्यकांतमणि से जो उत्पन्न होती है ।

आचारांग-निर्युक्ति में दी गई सूची इस प्रकार है —

“इस जगत में तेउकाय (अग्नि) के दो प्रकार हैं— 1. सूक्ष्म तेउकाय, 2. बादर तेउकाय सूक्ष्म तेउकाय (अग्नि) सम्पूर्ण लोक में है और बादर तेउकाय मात्र अढ़ाई द्वीप-समुद्र में ही है ।” बादर तेउकाय के पांच प्रकार इस प्रकार हैं —

1. अंगारे - जहां धूम और ज्वाला न हो ऐसा जला हुआ इंधन ।
2. अग्नि - इंधन में रही हुई जलन क्रिया स्वरूप, विद्युत् — आकाश में चमकने वाली उल्का और अशनि (वज्र) के संघर्ष से उत्पन्न होने वाली, सूर्यकांतमणि से संसरण (प्रगट) होने वाली इत्यादि ।
3. अर्चिः - इंधन के साथ रही हुई ज्वाला स्वरूप ।
4. ज्वाला-अंगारे से अलग हुई जलती हुई ज्वालामुँ ।
5. मुर्मुर् - कोई कोई अग्नि के कण वाला भस्म ।

बादर अग्निकाय के यह पांच भेद हैं ।

दशवैकालिक के व्याख्या ग्रंथों - जिनदास चूर्णि, अगस्त्यसिंह चूर्णि और हारिभद्रीय टीका द्वारा प्रदत्त अर्थों तथा आचारांग निर्युक्ति की तुलना जब प्रज्ञापना की टीका से करते हैं,

तो स्पष्ट होता है कि जहां अंगारे, ज्वाला, मुर्मुर, अर्चि और अलात के विषय में बहुतांश में समान अर्थ है वहां अग्नि, शुद्धाग्नि, उल्का, विद्युत्, अशनि, निर्घात, संघर्ष समुत्थित तथा सूर्यकांतमणि-निःसृत के विषय में अर्थ-भेद है अथवा व्याख्या का अभाव है।

दशवैकालिक-व्याख्याओं में 'अग्नि' को लोह पिण्ड प्रविष्ट तेजस् के रूप में बताया गया है वहां प्रज्ञापना की टीका में शुद्धाग्नि को लोह पिण्ड आदि में स्थित अग्नि के रूप में बताया है जबकि दशवैकालिक हारिभद्रीय टीका और जिनदास चूर्णि - दोनों में निरिन्धन अग्नि को शुद्धाग्नि के रूप में माना है। आचारांग निर्युक्ति में 'अग्नि' के अन्तर्गत ईंधन में रही हुई जलन क्रिया स्वरूप अग्नि के साथ विद्युत्, उल्का, अशनि, संघर्ष-उत्पन्न और सूर्यकांतमणि-निःसृत अग्नि को लिया है जबकि प्रज्ञापना (मूल) में विद्युत् आदि छह भेद स्वतंत्र रूप में ही हैं और 'अग्नि' को स्वतंत्र भेद के रूप में नहीं माना है। दशवैकालिक (मूल) में विद्युत् आदि छः भेदों में केवल उल्का का उल्लेख है और व्याख्या में उसे 'गगनाग्नि' तथा 'विद्युत् (आकाशीय बिजली) आदि' के रूप में बताया है।

इन सभी भेदों की समीक्षा करने पर स्पष्ट हो रहा है कि अग्नि के भेदों के विषय में परम्परा का क्रमिक विकास हुआ है। दशवैकालिक की सूची पूर्वतर है और पणवणा की उत्तरकालीन। दिगम्बर ग्रंथों में मूलाचार⁷⁹ में अंगारे, ज्वाला, अर्चि मुर्मुर, शुद्धाग्नि और अग्नि - ये छः भेद बतलाये हैं। इसमें दशवैकालिक की तरह अग्नि और शुद्धाग्नि को अलग-अलग लिया है तथा आचारांग निर्युक्ति की तरह आकाशीय विद्युत्, वज्र (अशनि) आदि को शुद्ध अग्नि के अन्तर्गत ही बतलाया है। इसके आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि दशवैकालिक में निर्दिष्ट 'अग्नि' में अयः पिण्ड (लोह-पिण्ड) प्रविष्ट अग्नि को रखा गया था, जिसे प्रज्ञापना में शुद्धाग्नि में माना गया तथा केवल 'अग्नि' के भेद को हटाकर उल्का, आकाशीय विद्युत्, अशनि, निर्घात आदि को स्वतंत्र भेद के रूप में बताया जो दशवैकालिक की व्याख्या में 'उल्का' गगनाग्नि में थे तथा आचारांग निर्युक्ति तथा दिगम्बर ग्रंथ मूलाचार में 'शुद्धाग्नि' में थे। दशवैकालिक की 'शुद्धाग्नि' में 'निरिन्धन अग्नि' के रूप में व्याख्या का कोई अलग अर्थ नहीं निकलता। अगस्त्य चूर्णि में "एते विसेसे मोत्तुण सुद्धाग्णि" कहकर शेष सभी का समावेश शुद्धाग्नि में किया है। इस प्रकार शुद्धाग्नि के रूप में ही उल्का, विद्युत्, अशनि, निर्घात आदि को स्वीकार करने पर 'निरिन्धन अग्नि' अर्थ भी घटित होता है। जैसे अप्कायिक जीवों में "शुद्धोदक" से "अंतरिक्ष-जल"⁸⁰ को लिया है और वायुकायिक में शुद्ध वायु में मंद, शांत या आर्द्र वायु⁸¹ को लिया है उससे शुद्ध का अर्थ है - प्राकृतिक। इस प्रकार 'शुद्धाग्नि' में भी 'उल्का आदि' (गगनाग्नि) को माना जाय तो उल्का आदि के भेद शुद्धाग्नि में आ जाएंगे, जैसा आचारांग निर्युक्ति में 'अग्नि' के रूप में इन्हें माना है अथवा मूलाचार में 'शुद्धाग्नि' के रूप में माना है।

संघर्ष-समुत्थित अग्नि के उदाहरण में अरणी लकड़ी की रगड़ का उदाहरण है। 'आदि' शब्द से दो चकमक-पत्थरों की रगड़ या संघर्ष को लिया जा सकता है। 'सूर्यकांतमणि संभवतः अवतल (Concave) लेन्स के सदृश मणि है जिस पर प्रखर सूर्य किरणों को केन्द्रित कर अग्नि पैदा की जा सकती है।

ये सभी प्रकार की अग्नि की उत्पत्ति जीव की योनि बनने पर होती है, जिसकी चर्चा हम कर चुके हैं। किन्तु तेजस्काय की जीव-योनि की निष्पत्ति में कारक पौद्गलिक उपादानों को समझे बिना तेउकायिक जीव के उक्त सभी प्रकारों में रही सदृशता या लाक्षणिकता स्पष्ट नहीं हो सकती। तेउकायिक जीवों की योनि में उष्णता की अनिवार्यता बहुत स्पष्टतः निर्दिष्ट भी है और प्रत्यक्षतः जानी जाती है - हालांकि 'उष्णता' से तात्पर्य होगा सामान्य तापमान से अत्यधिक तीव्र तापमान। किन्तु उचित तापमान का विभिन्न पदार्थों के सम्बन्ध में विभिन्न नाप होगा। कितने तापमान पर कौनसा पदार्थ अग्नि की योनि बन सकता है, यह मीमांसा आवश्यक है।

इसके अतिरिक्त 'वायु' की उपस्थिति की भी अग्निकायिक जीवों के लिए अनिवार्यता बताई गई है।⁸² यह कौनसी वायु है जिसके बिना तेउकायिक जीव जीवित नहीं रह सकते हैं? इसकी मीमांसा अपेक्षित है। आचारांग-भाष्य में इसे प्राणवायु बताया गया है।⁸³

तीसरा कारक है - कौन-सा पदार्थ अग्नि पैदा कर सकता है, कौन सा नहीं? यानि क्या सभी पदार्थ अग्नि को उत्पन्न करने में सक्षम है अथवा कौनसा नहीं है - यह मीमांसा भी करणीय है।

पहले हम विज्ञान के आधार पर अग्नि की प्रक्रिया को समझें और उसके पश्चात् उक्त मीमांसा करे, तो सारा विषय बहुत ही स्पष्ट होगा।

विज्ञान द्वारा अग्नि की व्याख्या

जब किसी भी प्रकार की अग्नि उत्पन्न होती है तब जो प्रक्रिया घटित होती है उसे सामान्यतः 'जलने' या 'दहन' के रूप में होने वाली एक रासायनिक क्रिया के रूप में जाना जाता है। इसी प्रक्रिया को विज्ञान में "कंबश्चन" (Combustion) यानी 'दहन' कहा जाता है।

पाश्चात्य जगत् में वैज्ञानिक विकास से पूर्व अग्नि के विषय में काफी अंध-विश्वास एवं मान्यताएं फैली हुई थीं। उसे 'देवता' रूप मानकर उसकी पूजा आदि करने का उल्लेख मानव-सभ्यता के आदिम युग के इतिहास में प्राप्त होता है।⁸⁴ वैज्ञानिक क्षेत्र में रासायनिक विज्ञान के विकास के साथ "अग्नि" की समुचित व्याख्या लेवोइजियर (Lavoisier) नामक रसायन-वैज्ञानिक ने प्रस्तुत की तथा भावी अनुसंधान की दिशाएं स्पष्ट होने के साथ ही पता

लग रहा है कि ऑक्सीजन के साथ ज्वलनशील पदार्थ के रासायनिक संयोग और उष्मा के विकिरण की प्रक्रिया कंबश्चन है तथा उसके मूल में अभिक्रिया में भाग लेने वाले पदार्थों का “आयनीकरण” जिम्मेवार है।⁸⁵

इस प्रकार अग्नि एक रासायनिक प्रक्रिया है। इसकी पारिभाषिक संज्ञा है – कंबश्चन या दहन क्रिया। इसकी स्पष्ट परिभाषा इस प्रकार है – दहन-क्रिया का अर्थ है ज्वलनशील पदार्थों (इंधन) का ऑक्सीजन के साथ रासायनिक संयोग तथा उष्मा का उत्सर्जन। कंबश्चन में प्रयुक्त इंधन (ज्वलनशील पदार्थों) को परिभाषित एवं व्याख्यायित करते हुए बताया गया है – “इंधन वह पदार्थ है जो जलाने पर यानी आक्सीजन के सम्पर्क में आने पर और उसके साथ रासायनिक अभिक्रिया करने पर उष्मा पैदा करता है। इंधन में निम्नलिखित ज्वलनशील मूल तत्वों में से एक या अनेक का होना अनिवार्य है – कार्बन, हाइड्रोजन और हाइड्रो-कार्बन।”⁸⁶ इंधन या ज्वलनशील पदार्थ तीनों अवस्थाओं के हो सकते हैं – ठोस, तरल या गैस (वायु)।⁸⁷

दहन-क्रिया एक प्रकार की रासायनिक अभिक्रिया होने से यह क्रिया उतनी ही शीघ्रता से तथा तीव्रता से हो पाती है जितनी उसमें भाग लेने वाले सभी पदार्थों (कार्बन, आक्सीजन आदि) के बीच सम्पर्क की निकटता होती है तथा उसका सम्पर्क क्षेत्र विशाल होता है अर्थात् ज्वलनशील पदार्थों का ऑक्सीजन के साथ संयोग कंबश्चन सहित सभी प्रकार की रासायनिक अभिक्रियाएं उक्त सिद्धान्त के आधार पर होती हैं।⁸⁸ ज्वलनशील पदार्थ चाहे गैस, तरल या ठोस-अवस्था में हो सकते हैं पर शुद्ध ऑक्सीजन या ऑक्सीजन-युक्त हवा (वायु), जिससे कंबश्चन होता है, तो हमेशा गैस अवस्था में ही होनी चाहिए।⁸⁹

ठोस इंधन या ज्वलनशील पदार्थों में प्राकृतिक ईंधन के रूप में लकड़ी, कोयला, लिग्नाइट आदि का प्रयोग होता है। तरल पदार्थों में पेट्रोल तथा गैसीय पदार्थों में प्राकृतिक गैसों का प्रयोग होता है।

वैज्ञानिकों ने पदार्थों को दो प्रकार में बांटा है-

1. ज्वलनशील (Combustible)
2. अज्वलनशील (Incombustible)

लकड़ी, कोयला, घी, तेल, रसोई में प्रयुक्त गैस, घास, रूई, कपड़ा, कागज आदि ज्वलनशील पदार्थ हैं। इनमें भी पेट्रोल, केरोसीन, डीजल आदि अतिज्वलनशील (highly inflammable) हैं। दूसरी और राख, धूल, मिट्टी, पत्थर, पानी आदि अज्वलनशील हैं। वायुओं में कार्बनडाई ऑक्साइड (CO₂) जैसी वायु भी अज्वलनशील है। इन सबका प्रयोग अग्निशामक पदार्थ के रूप में किया जाता है।

अधिकांश ज्वलनशील पदार्थों के भीतर मुख्यतः कार्बन, हाईड्रोजन आदि घटक होते हैं जो स्वभावतः अतिशीघ्र कंबश्चन की क्रिया घटित कर सकते हैं। कंबश्चन या दहन की प्रक्रिया इस प्रकार घटित होती है-

1. ज्वलनशील तत्त्व मौजूद होना चाहिए।
2. उसके साथ प्राणवायु (ऑक्सीजन) का सम्पर्क होना चाहिए।
3. अमुक निर्धारित तापमान प्राप्त होना चाहिए।

एक विशेष तापक्रम पर कई पदार्थ ऑक्सीजन/हवा के साथ प्रक्रिया करके 'जलने' लगते हैं। इस तापक्रम को 'ज्वलन-बिन्दु' या विस्फोटक बिन्दु कहते हैं। पदार्थ को जलने में हवा/प्राणवायु की भूमिका मुख्य होती है। प्राणवायु अलग-अलग प्रकार के पदार्थों के साथ भिन्न-भिन्न गति से प्रक्रिया करती है - यानि भिन्न-भिन्न गति से जलाती है तथा उसी हिसाब से ताप व प्रकाश पैदा करती है।

उदाहरणार्थ - हवा में लकड़ी 295° से., कोयला 477° से., केरोसीन 295° से. तथा हाइड्रोजन गैस 580° से 590° से. तक जलेंगे। इस तापमान से कम पर कंबश्चन नहीं होगा। कौन सा पदार्थ कितने तापमान पर ज्वलन क्रिया करेगा, इसका पूरा कोष्टक टिप्पण में है।⁹⁰

4. उपर्युक्त तीनों की एक प्रणाली (System) बननी चाहिए।

इतना होने पर एक रासायनिक क्रिया होती है जिसमें कार्बन जैसे मूल तत्त्व ऑक्सीजन के साथ रासायनिक रूप में संयुक्त होते हैं जिसके परिणाम स्वरूप 'अग्नि' प्रकट होती है और साथ ही साथ CO₂ (कार्बन डाई ऑक्साईड) यानी धुंआ तथा राख व अन्य अधजले ठोस पदार्थ भी उत्पन्न होते हैं।⁹¹ इसी के साथ ताप, प्रकाश व कभी-कभी ध्वनि रूप ऊर्जा का विकिरण होता है। हाइड्रोजन ऑक्सीजन के साथ संयुक्त होने पर बाष्प बन जाती है जो H₂O के रूप में होती है, इसी प्रकार SO₂ (सल्फर डाई ऑक्साईड), NO₂ (नाइट्रोजन ऑक्साईड), O₃ (ओजोन) आदि गैस भी उत्पन्न हो सकती हैं। कभी-कभी CO (कार्बन मोनोक्साईड) अथवा मिथेन गैस के रूप में भी निष्पत्ति होती है। इस प्रकार की गैसों (मिथेन, इथेन, आदि) उत्पन्न होकर उपयुक्त तापमान पर पुनः ऑक्सीजन के साथ रासायनिक क्रिया करती हैं और अग्नि को और अधिक तेज बनाती हैं। जैसे-लकड़ी जलती है तब कार्बोनिक गैस बनती है जो ऑक्सीजन के साथ रासायनिक क्रिया कर 'ज्वाला' या 'लपट' के रूप में जलती है।⁹²

जब अग्नि की प्रक्रिया मंद-मंद रूप में चलती है तब इस प्रकार की गैस नहीं बनती, उस समय इंधन में विद्यमान सेल्यूलोज, कार्बोहाइड्रेट्स या कार्बन मंद गति से गरम होती है। जब ज्वलन-बिंदु पर पहुंचती है तब प्राण वायु (ऑक्सीजन) के साथ रासायनिक क्रिया

होती है और एक्सोथर्मिक प्रक्रिया (यानी जिसमें उष्मा के रूप में ऊर्जा का विकिरण हो) के द्वारा उष्मा (या ताप) का उत्सर्जन होता है और कार्बन डाई ऑक्साइड गैस बनती है। इस प्रकार की आग 'अंगारे' के रूप में जलती है।⁹³

जब ऑक्सीजन की कमी होती है, जैसे-राख से ढक जाने पर तब अंगारे बहुत कम गर्मी पैदा करते हैं। ऑक्सीजन की आपूर्ति, 'ताप' ऊर्जा का उत्पन्न होना और उसका विकिरण द्वारा हास होना, इन सब में राख की परत एक संतुलन बना देती है। अतः अंगारे लाल रहकर धीमी गति से जलते हैं।⁹⁴

घर्षण से अग्नि : चकमक जैसे पत्थर को जब आपस में रगड़ा जाता है तो घर्षण से गर्मी पैदा होती है तथा पत्थर के छोटे-2 कण टूट कर लाल गर्म हो जाते हैं। ये गर्म कण आस-पास की हवा से चिनगारी रूप में जलने लगते हैं। ऐसे घर्षण में विद्युत् के चार्ज भी पैदा होते हैं।⁹⁵

इस प्रकार 'अग्नि' किसी ज्वलनशील पदार्थ की प्राणवायु (ऑक्सीजन) के साथ रासायनिक प्रक्रिया द्वारा 'स्वयंभू' चलने वाली 'जलने' की प्रक्रिया है। आनुषंगिक रूप में इसके साथ उष्मा, प्रकाश की ऊर्जा का विकिरण होता है।

“साधारण अग्नि में पदार्थ का ज्वलन-अंक तक गर्म होना जरूरी है। उस अंक तक पहुंचने के पहले ही वो पदार्थ गैस रूप में वाष्पीकृत हो सकता है। उस प्रकार के पदार्थ के जलने की प्रक्रिया बहुत प्रचंड हो जाती है, जैसे-पेट्रोल। जलने की गति पदार्थ के उस गुण पर निर्भर करती है कि वो ज्वलनशील है या अति-ज्वलनशील। जलने की प्रक्रिया को तेज या कम किया जा सकता है, यदि उसमें प्रयुक्त होने वाली प्राणवायु की आपूर्ति को नियंत्रित किया जाए। तेज हवा देकर जलने की प्रक्रिया को तेज किया जा सकता है।”⁹⁶

अग्नि किसी भी रूप में क्यों न हो, यदि उसे जलाने में सहयोग करने वाली वायु जो मुख्यतः प्राणवायु है, न मिले तो अग्नि नहीं जलेगी। यदि जलती हुई अग्नि को प्राणवायु का मिलना बंद हो जाय तो वह तुरंत बुझ जाएगी। जलते हुए दीपक पर ढक्कन या बर्तन रख देने से वह थोड़ी देर में बुझ जाता है, क्योंकि ऑक्सीजन की आपूर्ति अवरुद्ध हो गई। जब तक ढक्कन के भीतर बचा हुआ ऑक्सीजन समाप्त नहीं हो जाता तब तक ही दीपक जलता रहेगा, उसके पश्चात् वह तुरंत बुझ जाएगा। इंधन तब तक ही जलता है जब तक उसे ऑक्सीजन मिलता रहता है-यह एक सार्वत्रिक नियम है।

जलते हुए अंगारों पर धूल, मिट्टी, पानी आदि डालने से भी अंगारे बुझ जाते हैं। इनके प्रयोग से ऑक्सीजन का सम्पर्क टूट जाता है। ये सारे पदार्थ अग्निशामक हैं, क्योंकि ये स्वयं अज्वलनशील हैं। ऑक्सीजन को छोड़कर हवा में मौजूद नाइट्रोजन, आर्गोन, नीयोन

आदि गैस 'इनर्ट' (निष्क्रिय) होने से इनके द्वारा अग्नि नहीं जलती। हवा में ये सारी गैसों लगभग 80 प्रतिशत तथा ऑक्सीजन 20 प्रतिशत है। किन्तु अग्नि में उपयोगी तो केवल ऑक्सीजन ही है। यदि किसी बर्तन या बल्ब आदि में ऑक्सीजन नहीं होती और इनमें से कोई वायु भर दी जाती है, तो उसमें अग्नि नहीं जल सकती। (यद्यपि अपवाद रूप में क्लोरीन या फ्लोरीन गैस में भी हाइड्रोजन आदि पदार्थों द्वारा विशेष रासायनिक क्रिया के परिणामस्वरूप ज्वलनक्रिया हो सकती है पर क्लोरीन, फ्लोरीन अथवा ऑक्सीजन की मौजूदगी के बिना अग्नि जलना संभव नहीं है।) निष्क्रिय गैसों में ऑक्सीजन के अभाव में तो अग्नि कभी नहीं जल सकती। इलेक्ट्रीक बल्ब में निष्क्रिय गैस भरी जाती है या शून्यावकाश रखा जाता है। इसलिए उसके अन्दर ऑक्सीजन के अभाव तथा ज्वलनशील पदार्थ के अभाव के कारण अग्नि जलने की क्रिया नहीं हो सकती। बल्ब में टंगस्टन धातु गरम होने पर भी जलती नहीं है। नाइट्रोजन आदि निष्क्रिय गैसों इसलिए बल्ब में भरी जाती हैं। इस विषय की विस्तृत चर्चा "बल्ब की प्रक्रिया" विषय के अन्तर्गत की जाएगी।

क्लोरीन-फ्लोरीन के अपवाद को छोड़कर कहीं भी ऑक्सीजन के अभाव में किसी भी प्रकार की अग्नि जलने की क्रिया को किसी ने अनुभव नहीं किया है। इसलिए यह व्याप्ति बन जाती है। जहां-जहां ऑक्सीजन का अभाव है वहां-वहां अग्नि का अभाव है।

डॉ. जे. जैन ने एक प्रश्न की चर्चा की है — "क्या 'अग्नि' में ऑक्सीजन के साथ एक स्वपोषी रासायनिक प्रक्रिया होना ही काफी है या उस प्रक्रिया से आग से सचित तेउकाय पैदा करने में या 'ताप' के साथ-साथ 'प्रकाश' का पैदा होना भी जरूरी शर्त है? यानी सचित अग्नि का मापदण्ड क्या है?"

ऐसी स्वपोषी रासायनिक क्रियाएं बहुत सी हैं जिनमें ताप पैदा होता है लेकिन दृश्य-प्रकाश पैदा नहीं होता है। क्या उनको सचित कहा जाये?

1. थर्मिट प्रक्रिया को आग की श्रेणी में रखना होगा, क्योंकि उसमें ताप के साथ 'प्रकाश' भी पैदा होता है।

2. क्लोरोफिल प्रकाश के साथ रासायनिक क्रिया करके हवा की CO_2 से कार्बन व ऑक्सीजन बनाता है। लेकिन 'प्रकाश' पैदा नहीं करता है, अतः अचित है।

3. CaO (चूने) के पानी के साथ रासायनिक क्रिया करने से 'ताप' पैदा होता है, लेकिन प्रकाश पैदा नहीं होता है। ब्लीचिंग पाउडर भी इसी श्रेणी में आता है। (यह 'सचित अग्नि' नहीं है।)

4. स्वपोषी क्रिया (Self-Sustaining) का मतलब क्या है? यदि प्रक्रिया में भाग लेने वाले पदार्थों की आपूर्ति बराबर बनी रहे तथा उनमें एक बार प्रक्रिया शुरू हुई तो फिर चलती रहेगी यानि 'प्रक्रिया' शुरू करने के लिए उनका आपस में मिला रहना (जैसे इंधन हवा में

पड़ा रहे— बिना आग को शुरू किये) ही काफी नहीं है, उनमें आपस में 'प्रक्रिया' शुरू करानी पड़ती है बाह्य साधन से। जैसे ताप का संग्रहण हो जाना (Sponge iron, bleaching powder) आदि में। लेकिन पानी व चूने की रासायनिक प्रक्रिया शुरू कराने के लिए यह शर्त नहीं है। केवल उन दोनों के मिल जाने से रासायनिक प्रक्रिया शुरू हो जाती है। जैसे— HCl (नमक का अम्ल) व Zn जस्ते का मिलाना। उसमें गर्मी पैदा होती है। कुछ क्रियाएं गर्म करने से शुरू होती हैं। जैसे उच्च तापमान रासायनिक क्रियाएं हैं। यदि वो स्वपोषी नहीं है तथा ताप-प्रकाश नहीं निकलता है तो सचित्त अग्नि की श्रेणी में नहीं है।

साधारण अग्नि में हवा का होना जरूरी है। 'अग्नि' को शुरू कराने के लिए उस पदार्थ में कुछ ताप-शक्ति का प्रवेश कराना भी जरूरी है। यह ताप बाहरी अग्नि से, चिनगारी से, सूर्य की रोशनी से या ई.एम. लहरों से या विद्युत् से या अन्य रासायनिक प्रक्रिया से दिया जा सकता है। केवल एक बार ताप देकर यह प्रक्रिया शुरू की जाती है। बाद में 'आग' स्वपोषी बन जाती है।¹⁹⁷

अग्नि की प्रक्रिया के लिए चार अनिवार्य शर्तें मानी जा सकती हैं—

1. जब तक ऑक्सीजन (या अपवाद रूप क्लोरीन-फ्लोरीन) उपलब्ध नहीं होती, अग्नि नहीं जलेगी।
2. जब तक ज्वलनबिंदु का निश्चित तापमान प्राप्त नहीं होता, अग्नि नहीं जलती— 'श्रेसोल्ड' (न्यूनतम सीमा-बिन्दु) पार करे बिना।
3. जब तक ज्वलनशील पदार्थ इंधन रूप में नहीं मिलता तब तक अग्नि नहीं जलती।
4. जब तक उष्मा के साथ-साथ प्रकाश की ऊर्जा का विकिरण नहीं होता, तब तक अग्नि नहीं जलती।

संक्षेप में—

- | | |
|-----------------------|--------------------------------|
| 1. ऑक्सीजन, | 2. ज्वलनशील पदार्थ |
| 3. ज्वलनबिंदु-तापमान, | 4. उष्मा और प्रकाश का उत्सर्जन |

इन चारों का एकत्र योगदान अग्नि की अनिवार्य शर्त है।

तापमान (Temperature)

“हमारे शरीर का तापमान 37 डिग्री सेण्टीग्रेड रहता है। अन्य पदार्थ इसके सापेक्ष कितने ऊँचे या नीचे तापमान पर है, उसी सापेक्षता से उनको गर्म या ठण्डा कहा जाता है।” तापमान अणु, परमाणु व इलेक्ट्रॉन की एक विचलित (excited) अवस्था को जाहिर करता है। इसमें ताप-ऊर्जा जरूर है। लेकिन ज्यादा तापमान होने पर भी इसमें तेजस्काय का जीव होना जरूरी नहीं है। जैसे बुझे हुए चूल्हे की बहुत ही गर्म राख।

तुलसी प्रज्ञा अक्टूबर—दिसम्बर, 2003

1. रासायनिक प्रक्रिया (Exothermic) से तापमान बढ़ता है — जैसे 'जलना'। यह भाग लेने वाले पदार्थों के गुण पर निर्भर करते हैं। इसमें ताप व प्रकाश दोनों निकलते हैं। धीमे-जलने की प्रक्रिया में प्रकाश बहुत कम निकलता है। तीव्र जलने में या ज्वलनशील पदार्थों में वे 'गैस' अवस्था में तब्दील होकर जलते हैं, जिसे आग की लपटें कहते हैं।

2. घर्षण से - इससे 'ताप' व चार्ज पैदा हो सकते हैं। क्या और कितना पैदा होगा ? यह घर्षण में भाग लेने वाले पदार्थों के गुण पर निर्भर करता है, जैसे चकमक का पत्थर। पत्थर की सतह का तापक्रम बढ़ता है। बादलों में आपसी घर्षण से बिजली का चार्ज पैदा होता है। दोनों हथेलियों के रगड़ने से उसका तापमान बढ़ जाता है।

3. ताप किरणों का सोखना : सूर्य की रोशनी और ताप को पृथ्वी सोखती है जब वह सूर्य के सामने होती है। इससे उसका तापमान बढ़ता है, खासकर ठोस व द्रव्य पदार्थों का। गैस पदार्थ का तापमान बढ़ता है conduction व convection (संवहन) क्रिया से। पृथ्वी पर रखे सुचालक पदार्थों का तापमान जल्दी बढ़ जाता है। रात्रि में गर्म पृथ्वी अपनी गर्मी आकाश में emit करके अपने को वापिस ठंडी करती है। दिन के समय में भी गर्म व प्रकाशित पृथ्वी खुद आकाश में प्रकाश व ताप radiate करते हैं यानि सूर्य की किरणों को सोखकर, प्रकाश व ताप का केवल 'परावर्तन' किया जाता है, न कि ताप व प्रकाश का उत्पादन।

इसी प्रकार सूर्य की किरणों को (Concave-reflection) नतोदर परावर्तक द्वारा घनीभूत किया जा सकता है। सूर्य चूल्हों में इस विधि से सूर्य की किरणों द्वारा खाना पकाया जाता है। इतनी गर्मी इकट्ठी की जाती है कि पानी को भाप में बदला जाता है।

ये पदार्थ सचित्त-अग्निकाय के सीधे Contact (संस्पर्श) में नहीं आते हैं, अतः सचित्त नहीं होते और न नतोदर-दर्पण 'ताप-प्रकाश' ऊर्जा पैदा करता है - केवल घनीभूत करता है, अतः (Concave Mirror) नतोदर दर्पण स्वयं भी सचित्त-अग्निकाय या चूल्हे की गिनती में नहीं आयेगा।

“तापमान व तेउकाय

किसी पदार्थ को केवल गर्म करने से ही उसमें तेउकाय के जीव पैदा नहीं होते हैं। वैसे परम शून्य तापक्रम (Absolute zero) की अपेक्षा हर पदार्थ गर्म है। यदि किसी पदार्थ (ठोस, द्रव्य, गैस) का तापक्रम हमारे शरीर के तापक्रम से ज्यादा है (37 डिग्री से.), तो हम उस पदार्थ को गर्म कहते हैं। यदि इस तापमान से कम है तो उस पदार्थ को ठंडा पदार्थ कहते हैं। लेकिन “तेउकाय जीव किसी पदार्थ के जलने पर ही पैदा होते हैं।” (लाल गर्म लोहा भी तेउकाय का जीव नहीं रखता है, जब तक वो प्राणवायु के साथ प्रक्रिया करके 'जलना' शुरू नहीं कर देता है।

लोहार का लाल लोहा प्राणवायु से जलना शुरू कर सकता है। हालांकि यह 'धीमा-जलना' है। भट्टी में 'पिघला' लाल लोहा प्राण वायु के साथ शीघ्र प्रक्रिया करता है। अतः इसमें तेउकाय पैदा होने की ज्यादा संभावना है। 400 डिग्री सेंटीग्रेड पर गर्म लोहे के पिण्ड में तेउकाय के पैदा होने की सम्भावना कम है। इसका अपना रंग भी नहीं बदलता है। लेकिन इस तापक्रम से ज्यादा ऊपर गर्म करने पर इसका रंग बदलकर लाल-रंग होना शुरू हो जाता है।

यहाँ ध्यान देने की बात है कि केवल उच्च तापमान तक पहुँच जाने मात्र से यहाँ तक कि लाल गर्म हो जाने से ही तेउकाय पैदा नहीं हो जाते हैं। उस पदार्थ के साथ प्राणवायु से रासायनिक क्रिया कर जलना जरूरी है।⁹⁸

अनुकूल तापमान

ज्वलनशील पदार्थ को अनुकूल संयोग न मिले तो अग्नि की उत्पत्ति नहीं होती। ऑक्सीजन का संयोग हो पर उपयुक्त तापमान न हो तो अग्नि पैदा नहीं होगी। जैसे-पैट्रोल अतिज्वलनशील पदार्थ है और खुली हवा के संयोग में भी है पर यदि उपयुक्त तापमान नहीं मिलेगा तो ज्वलनक्रिया निष्पन्न नहीं होगी। पैट्रोल का ज्वलनबिंदु लकड़ी या कोयला की तुलना में नीचे होता है, इसलिए साधारण तापमान बढ़ने पर भी पैट्रोल जल जाता है। इस प्रकार कुछ पदार्थ (जो अतिज्वलनशील हैं) बहुत थोड़े तापमान की वृद्धि के साथ जल उठते हैं, जबकि अन्य पदार्थों को जलने के लिए बहुत ऊँचा तापमान चाहिए। दियासलाई के घर्षण द्वारा तापमान की वृद्धि कर नोक पर लगे हुए बारूद (जो अतिज्वलनशील पदार्थ है) को जलाया जाता है। जलती हुई दियासलाई से और अधिक तापमान पैदा होता है जिसमें अन्य ज्वलनशील पदार्थ जलाए जा सकते हैं। जलते हुए कोयले की अग्नि का तापमान लगभग 1300 डिग्री सेल्सियस नापा गया है।

पर्याप्त रूप में उच्च तापमान तथा ऑक्सीजन का योग—ये दोनों मिलने पर ही ज्वलनशील पदार्थ द्वारा अग्नि पैदा हो सकती है। इसे अनेक उदाहरणों से स्पष्ट किया जा सकता है। जैसे —

1. अग्नि की लपटें उच्च तापमान पर जलती हुई गैस हैं।
2. अंगारे और मुर्मुर् (अग्निकण) उच्च तापमान पर जलते हुए ठोस इंधन है।
3. आकाशीय बिजली में आयनीकृत गैस का उष्ण प्लाज्मा है, जो उस समय प्रकाशित होने के साथ ऑक्सीजन के साथ जलता है। जब बिजली चमकती है, कड़कती है। उससे पूर्व वह बादल में स्टेटिक विद्युत् के रूप में अचित् पुद्गल के रूप में स्थित है।
4. चकमक के घर्षण से उत्पन्न अग्नि में भी घर्षण से गर्म होकर हवा(ऑक्सीजन) के साथ जलने वाले सूक्ष्म कण होते हैं।
5. तरल इंधन अमुमन गैस बनकर फ्लेस पॉइन्ट पर ऑक्सीजन के साथ जलता है।

तात्पर्य यह हुआ कि चाहे ठोस हो, तरल हो, या गैस— कोई भी ज्वलनशील पदार्थ ज्वलन-बिन्दु पर ऑक्सीजन के साथ रासायनिक क्रिया द्वारा ही अग्नि पैदा करते हैं। प्लाज्मा अवस्था में भी यही प्रक्रिया है - जब तक ऑक्सीजन का संयोग नहीं होगा तब तक अग्नि प्रज्वलित नहीं होगी। साथ में ताप और प्रकाश का उत्सर्जन भी सहवर्ती है।

धातुएं उच्च तापमान पर पिघलती हैं। यदि ऑक्सीजन न मिले तो धातु पिघल सकती हैं, जल नहीं सकती। निम्न कोष्ठक में धातु का पिघलनांक दिया गया है —

| धातु | पिघलनांक |
|----------------------------------|-------------------------------|
| सोना | 1062 डिग्री से. |
| प्लेटिनम | 1770 डिग्री से. |
| टंगस्टन | 3643 डिग्री से. |
| इलेक्ट्रीक कार्बन आर्क का तापमान | 5500 डिग्री. |
| सूर्य का भीतरी तापमान | 2 करोड़ डिग्री. |
| ताराओं का उत्कृष्ट तापमान | 4 करोड़ डिग्री. ⁹⁹ |

ज्वलन-क्रिया में पदार्थ का जो ऊर्जा रूप में रूपान्तरण होता है वह अधिकांश उष्मा-ऊर्जा के रूप में होता है किन्तु अपेक्षाकृत वह मात्रा काफी कम होती है। उदाहरणार्थ—3000 टन कोयलों को जलाने पर केवल 1 ग्राम कोयले जितनी संहति का ऊर्जा का रूप में परिणाम होता है, शेष पदार्थ का रूपान्तरण कार्बन मोनोक्साइड और राख के रूप में होता है जिनकी संयुक्त संहति 3000 टन में से केवल 1 ग्राम कम जितनी होती है जबकि केवल 92 यूनिट ऊर्जा प्रति ग्राम प्राप्त होती है। इसी प्रक्रिया को यदि न्यूक्लीयर रिएक्टर में घटित किया जाता है तब उसमें कार्बन का न्यूक्लीयस ऑक्सीजन के न्यूक्लीयस के साथ मिलकर सिलीकोन के न्यूक्लीयस को निष्पन्न करते हैं तथा ऊर्जा का उत्सर्जन- 14×10^9 यूनिट जितना प्रतिग्राम होता है।¹⁰⁰

इस प्रकार ज्वलन-क्रिया एक रासायनिक क्रिया है जिसमें ज्वलनशील पदार्थ के कार्बन आदि तत्व ऑक्सीजन के साथ मिलकर उष्मा और प्रकाश के रूप में ऊर्जा का उत्सर्जन करते हुए राख आदि पदार्थ, कार्बन मोनोक्साइड या कार्बनडाई ऑक्साइड आदि गैस निष्पन्न करते हैं। इसी ज्वलनक्रिया को हम प्रज्वलन या अग्नि के रूप में देखते हैं। अग्नि, ज्वाला आदि का प्रकटीकरण इसी की परिणति है।

अग्नि और उष्मा में अन्तर

अग्नि और उष्मा दोनों एक नहीं है। 'अग्नि' कंबश्चन (दहन क्रिया) के रूप में

प्रगट होने वाली रासायनिक क्रिया है जबकि उष्मा ऊर्जा का एक रूप है जो पदार्थ स्थित अणु-गुच्छों की गति की तीव्रता-मंदता के अनुपात में पदार्थ से विकिरित होती है।¹⁰¹

उष्मा विकिरण (Thermal radiations) की उत्पत्ति¹⁰²

उष्मीय विकिरणों अथवा उष्मा की विकिरणों सभी पदार्थों द्वारा उत्सर्जित होती रहती हैं। इसी के माध्यम से हमें पदार्थ की उष्मा का अनुभव होता है। तापमान या उष्णतामान (temperature) का गुण सभी पदार्थों में सदा विद्यमान रहता है। सभी पदार्थ शून्य डिग्री निरपेक्ष (zero degree absolute) तापमान से अधिक तापमान वाले होते हैं। शून्य डिग्री निरपेक्ष से ऊपर ज्यों-ज्यों पदार्थ का तापमान बढ़ेगा त्यों-त्यों उसके उष्मीय विकिरणों का उत्सर्जन बढ़ेगा। यह उत्सर्जन जिस ऊर्जा के रूप में होता है, उसे उष्मा-ऊर्जा (thermal energy) कहते हैं। उष्मा-ऊर्जा का उत्सर्जन दो बातों पर निर्भर है—

1. पदार्थ का तापमान
2. पदार्थ की सतह का स्वभाव।

पदार्थ से निकलने वाली उष्मा-विकिरणों की तरंगें भी विद्युत्-चुम्बकीय तरंगों के रूप में ही होती हैं, ठीक वैसी ही जैसी प्रकाश की तरंगें होती हैं। किन्तु इनकी तरंग-लंबाई (wave-length) “इन्फ्रारेड” तरंगों की कोटि में होने से आंखों द्वारा दिखाई नहीं देती है। ये तरंग लंबाई 8×10^{-7} से लेकर 4×10^{-4} मीटर के बीच हैं जबकि दृश्य प्रकाश की तरंग-लंबाई 4×10^{-7} से 8×10^{-7} तक है। इनके कुछ विशेष लक्षण इस प्रकार हैं—

1. ये सदा समरेखा में प्रकाश की गति (वेग) से प्रसारित होती हैं।
2. इन्हें माध्यम की अपेक्षा नहीं है, ये शून्यावकाश (vacuum) में भी प्रसारित हो सकती है।
3. ये जिस माध्यम से गुजरती हैं, उसे गरम नहीं करती।
4. मूल स्रोत से दूरी के बढ़ने पर इनकी तीव्रता घटती जाती है।
5. प्रकाश-तरंगों की भांति इनका परावर्तन आदि होता है।
6. प्रकाश तरंगों की तुलना में इनकी ऊर्जा कम होती है।

स्टिफन-बोल्ट्ज़मैन नियम के अनुसार उष्मा-विकिरण की मात्रा का निर्धारण होता है।¹⁰³

इस सिद्धान्त से यह स्पष्ट होता है कि जैसे जैन दर्शन “आतप” को पौद्गलिक परिणमन मानता है, वैसे विज्ञान के अनुसार भी “उष्मा-विकिरण” भी केवल भौतिक ऊर्जा या द्रव्य है। जैसे प्रकाश केवल पौद्गलिक परिणमन है तथा केवल भौतिक ऊर्जा या द्रव्य है, वैसे ही उष्मा विकिरण भी अचित्त या निर्जीव ही है। सभी पदार्थों से ये विकिरण सतत

निकलते रहते हैं और हमारे शरीर द्वारा उनका ग्रहण होता रहता है। इस प्रक्रिया के सन्दर्भ में धातु के गरम होने की प्रक्रिया को सरलता से समझा जा सकता है।

धातु में विद्युत्-प्रवाह

धातु की विद्युत्-चालकता का कारण है - इलेक्ट्रॉनों का स्वतंत्र विहरण। ये इलेक्ट्रॉन जब वाहक में से गुजरते हैं, तब वाहक में दोलन (oscillation) करने वाले धन आयनों (Ions) के साथ उनकी टक्कर होती रहती है। इन टक्करों के दौरान इलेक्ट्रॉन की ऊर्जा का कुछ अंश दोलन करने वाले आयनों को मिलते हैं। इसके परिणामस्वरूप आयनों के दोलन और अधिक तीव्र और अस्तव्यस्त हो जाते हैं। ये आयनों को प्राप्त ऊर्जा उष्मा-ऊर्जा के रूप में प्रादुर्भूत होती है।

इस प्रकार धातु (वाहक) में से जब विद्युत् का प्रवाह बहता है, तब उष्मा-ऊर्जा का उत्पादन होता है। इसे “जूल उष्मा” कहा जाता है और इस प्रक्रिया को “जूल प्रभाव” (Joule Effect) कहा जाता है, क्योंकि इसका आविष्कार जूल नामक वैज्ञानिक ने किया था। विद्युत्-आवेश और वाहक के दोनों छोरों के बीच विद्यमान विद्युत्-स्थिति-अन्तर जो वोल्टेज के रूप में है, के गुणनफल से उष्मा-ऊर्जा का परिमाण निकाला जाता है। इकाई समय में उत्पन्न उष्मा-ऊर्जा विद्युत्-प्रवाह की राशि करंट (जो एम्पियर में ही) के वर्ग के अनुपात में होती है। यह जूल का नियम (Joule's Law) कहलाता है।¹⁰⁴

इसी नियम के अनुसार टंगस्टन धातु के फिलामेंट में गुजरने वाले विद्युत्-प्रवाह के अनुपात में उष्मा उर्जा पैदा होती है। यह ऊर्जा भी पौद्गालिक है। यही उष्मा-ऊर्जा प्रकाश के साथ विकिरित होती है। इस प्रकार -

ऑक्सीजन के अभाव में धातु को गरम करने पर ये जलती नहीं हैं, केवल उनका तापमान बढ़ जाता है। अत्यधिक तापमान होने पर उनके परमाणु से ऊर्जा का उत्सर्जन प्रकाश के रूप में होने लगता है। साथ में थोड़े रूप में उष्मा-ऊर्जा भी उत्सर्जित होती है पर जलने की क्रिया नहीं होती। यदि तापमान पिघलन-बिंदु तक पहुंच जाता है तो धातु पिघलने लगती है और तरल रूप ले लेती है। यदि तापमान और अधिक बढ़ाया जाए तो अन्ततोगत्वा वह वाष्परूप में परिणत हो जाती है। इस सारी प्रक्रिया में कहीं पर भी कोई रासायनिक क्रिया नहीं होती, केवल भौतिक क्रिया ही होती है यानी ठोस से तरल और तरल से वाष्प रूप में परिणमन होता है तथा ऊर्जा का उत्सर्जन होता है। भौतिक क्रिया का तात्पर्य है कि तापमान बढ़ने के साथ धातु के मोलीक्यूल उत्तेजित होते हैं और उनकी गति तीव्र हो जाती है जो प्रकाश और उष्मा की ऊर्जाओं के रूप में परिणत होती है तथा धातु प्रकाशित हो जाती है।

धातु का प्रकाशित होना धातु के भीतर रही हुई ऊर्जा का उत्सर्जन मात्र है, इसमें धातु जलती नहीं है, न ही राख, गैस आदि निष्पन्न होते हैं। पुनः धातु जब ठंडी होती है तब पुनः

अपना असली रूप प्राप्त कर लेती है—यानी जैसी थी वैसी ही हो जाती है। अग्नि में इंधन जलता है तब मूल ईंधन समाप्त हो जाता है। रासायनिक प्रक्रिया घटित होती है, इंधन का रूपान्तरण राख, गैस आदि रूप में होकर ऊर्जा का उत्सर्जन होता है, अग्नि की प्रक्रिया के बाद इंधन पुनः अपना रूप प्राप्त नहीं करता। यह स्पष्ट है कि अग्नि रासायनिक क्रिया है, धातु की उक्त क्रिया केवल भौतिक क्रिया है।¹⁰⁵

अब हम इलेक्ट्रीक बल्ब में प्रकाश करने वाले टंगस्टन के तार की प्रक्रिया को स्पष्टतः समझ सकते हैं। जब तार में विद्युत्-प्रवाह बहता है, तो विद्युत्-ऊर्जा का रूपान्तरण उष्मा-ऊर्जा में होने से टंगस्टन धातु ऊंचे तापमान पर प्रकाशित होने लग जाती है। इस सारी प्रक्रिया में कहीं पर भी ज्वलन-क्रिया या अग्नि का परिणमन नहीं होता। अग्नि की प्रक्रिया में अनिवार्यतः आवश्यक ऑक्सीजन का बल्ब में नितान्त अभाव है। इसलिए उपयुक्त तापमान होने पर भी तथा प्रकाश एवं उष्मा का उत्सर्जन होने पर भी अग्नि की प्रक्रिया घटित नहीं होती, न ही इंधन जलने के पश्चात् निष्पन्न होने वाले राख, गैस की निष्पत्ति होती है। (इसकी विस्तृत चर्चा आगे सेक्शन-9 में की गई है।)

अग्नि से सम्बद्ध अन्य कुछ ज्ञातव्य बातें

1. कुछ रासायनिक क्रियाएं ऐसी होती हैं, जिनमें उष्मा बढ़ती है पर अग्नि नहीं होती। जैसे—पानी में चूना डालने से एक्सोथर्मिक रिएक्शन होता है।

2. हवा के ऑक्सीजन के साथ लोहा सामान्य तापमान पर ही आर्द्रता प्राप्त होने पर फेरस आक्साइड ('जंग' या rust के रूप में) पैदा करता है। पर इसमें तापमान सीमा के भीतर ही रहता है। इस प्रक्रिया में उष्मा या प्रकाश निष्पन्न नहीं होते। यह अग्नि की क्रिया नहीं है।

3. फोस्फोरस सामान्य तापमान पर ऑक्सीजन के साथ मिलकर ऑक्साइड बनाता है और प्रकाश भी करता है। इस प्रकाश को "फोस्फेरन्स" कहा जाता है। यहां तापमान नहीं बढ़ता है।

7. आकाशीय विद्युत् (Lightning)

इलेक्ट्रीसीटी का भिन्न-भिन्न रूपों में भिन्न-भिन्न प्रकार से रूपान्तरण होता है। स्थित विद्युत् (static), चल-विद्युत् (current) और विद्युत् का डीस्चार्ज (निरावेशीकरण) — इन तीन रूपों में विद्युत् (इलेक्ट्रीसीटी) का परिणमन हो सकता है। जैसे हम देख चुके हैं कि विद्युत् स्वयं अपने आप में एक पौद्गलिक पर्याय के रूप में है। उसी पौद्गलिक पर्याय का कौन-सा रूपान्तरण "सचित्त तेउकाय" के रूप में परिणत होगा और कौन-सा केवल पौद्गलिक या अचित्त परिणमन ही रहेगा—इसे भली-भांति समझना होगा। आकाशीय विद्युत् जो आकाश में बिजली के रूप में चमकती है तथा विद्युत् के अन्य परिणमन कहां तक एकरूप है, कहां तक भिन्न—इसका चिन्तन हमें करना होगा। हम देख चुके हैं—

1. स्थित अवस्था में इलेक्ट्रीसीटी अवाहक या कुवाहक पदार्थों में भी होती है। जब तक वह उसी रूप में रहती है वह केवल भौतिक या पौद्गलिक रूप है।

2. प्रवाह (current) के रूप में सुचालक या अर्धचालक पदार्थों में जब विद्युत् धारा प्रवाहित होती है, तब भी वह केवल पौद्गलिक रूप में है। तार में बहने वाली विद्युत् कितनी ही तेज क्यों न हो, जब तक वह तार के भीतर रहती है तब तक वह अपने आप में केवल पौद्गलिक अस्तित्व है, अचित्त है। शरीर में प्रवहमान विद्युत्-प्रवाह भी अपने आप में पौद्गलिक है।

3. इलेक्ट्रीसीटी का डीस्चार्ज या विद्युत्-आवेश का निरावेशन किस प्रकार होता है — इस विषय में अब हम चर्चा करेंगे तथा देखेंगे आकाशीय विद्युत् की प्रक्रिया के रूप में यह क्रिया कैसे घटित होती है ?

पृथ्वी का वातावरण¹⁰⁶ —

आकाशीय विद्युत् (lightning) तथा उसका पृथ्वी पर पतन जो “अशनिपात” या बिजली के कड़कने के रूप में जाना जाता है, के घटित होने में निम्न कारक जिम्मेदार हैं —

1. पृथ्वी स्वयं में विद्युत् चार्ज (आवेश) से आवेशित है।
2. बादलों में “स्थित विद्युत्-आवेश” उत्पन्न होते हैं।

3. पृथ्वी का वातावरण (atmosphere) 400 किलोमीटर तक ऊपर फैला हुआ है। उसके दो स्तर — ट्रोपोस्फीयर और स्ट्रेटोस्फीयर कहलाते हैं। इनके बीच हवा में “आयनीकरण” होने पर प्लाज्मा का निर्माण होता है।

बादलों के दो स्तरों के बीच एक शक्तिशाली विद्युत् बल का निर्माण होता है। सर्वप्रथम तो हमें यह जानना होगा कि वातावरण में हवा के साथ ऑक्सीजन मौजूद रहता है तथा अन्य गैस या हलके रजकण तथा हलके तंतु आदि भी मौजूद रहते हैं। वाष्प के रूप में पानी के मोलीक्यूल भी ऊपर चले जाते हैं। ज्वलनशील गैस या अन्य सूक्ष्म कण आदि उच्च तापमान का योग मिलने पर अग्नि के रूप में परिणमन हो सकता है।

पृथ्वी की सतह से लगभग 12 किलोमीटर तक का वातावरण “ट्रोपोस्फीयर” कहलाता है। उसके पश्चात् लगभग 50 किलोमीटर तक फैला हुआ वातावरण “स्ट्रेटोस्फीयर” कहलाता है। स्ट्रेटोस्फीयर का स्तर वातावरण की इलेक्ट्रीकल प्रक्रियाओं के लिए जिम्मेवार है, जिसमें विद्युत् चमकने की घटनाएँ होती हैं।

पृथ्वी स्वयं इलेक्ट्रीसीटी की सुचालक है किन्तु वातावरण के नीचे के स्तर पर हवा विद्युत् की कुचालक है। ऊँचे स्तर पर बाह्य अंतरिक्ष से आने वाली ब्रह्मांडीय विकिरणों (cosmic rays) की बम-वर्षा-सी होती है। ये विकिरणें तीव्र ऊर्जा वाली होती हैं। ये

जब वातावरण से टकराती हैं तब वातावरण में मौजूद हवा एवं अन्य गैसों का आयनीकरण हो जाता है। आयनीकरण से तात्पर्य है कि परमाणु से इलेक्ट्रॉन (या पोजीट्रॉन) वियुक्त हो जाते हैं, जिससे परमाणु स्वयं + (धन) अथवा - (ऋण) आवेश वाला बन जाता है। आयनीकृत हवा या गैस विद्युत् की सुचालक बन जाती है।

ज्यों-ज्यों 'वातावरण' में ऊपर जाते हैं, त्यों-त्यों विद्युत् की सुचालकता बढ़ती जाती है। स्ट्रेटोस्फीयर के ऊपर के स्तर पर यानी उसके शिखर पर सारा 'वातावरण' अत्यन्त तीव्र सुचालक बन जाता है। (यह पृथ्वी से लगभग 60 किलोमीटर ऊपर घटित होता है।) पृथ्वी की सतह और स्ट्रेटोस्फीयर के ऊपर के स्तर के बीच इलेक्ट्रीक प्रक्रिया संभव बन जाती है।

चूँकि ये दोनों सुवाहक हैं। इनके बीच वोल्टेज का अन्तर विद्युत्-बल का कार्य करेगा। जो बादल बहुत ऊपर होते हैं, उनमें पानी वाष्प के रूप में ही होता है, पानी के कण के रूप में नहीं। ये बादल सामान्य वातावरण की हवा की तरह इलेक्ट्रीसीटी के कुचालक नहीं होते। पृथ्वी की सतह पर जो इलेक्ट्रीक पोटेंशियल होता है, उसका और बादलों के नीचे के हिस्से में एकत्रित इलेक्ट्रीक पोटेंशियल के बीच जो फर्क (Potential difference) है, वह जबरदस्त मात्रा में— लगभग 2 करोड़ से 20 करोड़ वोल्ट जितना हो सकता है। इसकी वजह से तीन किलो मीटर मोटी वातावरण की पट्टी में एक जबरदस्त विद्युत्-क्षेत्र प्रवर्तित होता है। इस क्षेत्र की दिशा ऊपर की ओर होती है। इस क्षेत्र के बीच की हवा का आयनीकरण हो जाता है, जिससे वह सुचालक बन जाती है।

प्राकृतिक तूफान (Thunder storm)

हमारी पृथ्वी पर मौसम के परिवर्तन की प्रक्रिया चलती रहती है। इसके फलस्वरूप मेघ-निर्माण, हवामान तथा हवा के दबाव में उथल-पुथल, तापमान का अन्तर, हवा में धूली कणों का एकत्रीकरण आदि ऐसे कारक हैं जो निरन्तर प्राकृतिक तूफानों के निमित्त बनते रहते हैं। पृथ्वी के चारों ओर के वातावरण के परिणमनों के कारण प्रतिदिन 40000 प्राकृतिक तूफान या तड़ित्-झंझा (Thunder storm) कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी रूप में उठ खड़े होते हैं, जिनमें गर्जन और विद्युत् (Lightning) का क्रम चलता रहता है। औसतन प्रति दो सैकण्ड में विश्व में कहीं-न-कहीं ऐसा तूफान आता रहता है और इस तूफान की अवधि औसतन एक घंटे की होती है। इन तूफानों के दौरान स्ट्रेटोस्फीयर और पृथ्वी के बीच जो इलेक्ट्रीक चार्ज का आदान-प्रदान होता है, उसके परिणामस्वरूप ही पृथ्वी एवं वातावरण की विद्युत्-स्थिति को बनाए रखना संभव होता है अन्यथा विद्युत् का असंतुलन पृथ्वी के लिए खतरनाक सिद्ध हो सकता है।¹⁰⁷

(i) जब तूफान की स्थिति बनती है, तब ऊपर 6 किलोमीटर तक धन विद्युत् आवेश

वाले कण तथा 2 से 3 किलोमीटर तक ऋण आवेश वाले कण बादलों में जमा होते जाते हैं। डॉ. जे. जैन ने इस पूरे क्रम को इस रूप में प्रस्तुत किया है-¹⁰⁸ “जब वर्षा के बादलों में आंशिक जमे हुए पानी व बर्फ के खण्डों के बीच आपसी टक्कर होती है तो उस घर्षण से धन और ऋण आवेश (चार्ज) पैदा होते हैं। यह चार्ज पैदा करने की प्रक्रिया उसी प्रकार होती है जैसे एक कमरे में गलीचे पर चलने से किसी खास शुष्क दिवस में शरीर पर स्थिर चार्ज पैदा हो जाते हैं। ये चार्ज उस आदमी को झटके के रूप में महसूस होंगे जब वह दरवाजे की कुंडी को छूता है।

(ii) चुम्बकीय क्षेत्र में वाष्प के बादल जब ज्यादा गति से घूमते हैं तो उनमें बिजली का चार्ज पैदा होने की संभावना हो सकती है। यह उसी प्रकार होता है, जैसे एक जेनरेटर में रोटर पर चार्ज पैदा होते हैं।

(iii) आम तौर पर ऋण चार्ज मध्य या निचली सतह पर इकट्ठे होते हैं तथा धन चार्ज (अणु या आयन) ऊपर उठ कर उस बादल की ऊपरी सतह पर इकट्ठे होते रहते हैं।

(iv) चार्ज पैदा होने की गति निर्भर करती है

(1) बादलों की विभिन्न परतों की सापेक्षिक गति पर, (2) अवशीतन की मात्रा पर (3) आंशिक जमे हुए पानी व पूर्णतः जमे हुए बर्फ के अनुपात पर (4) बादल की अंदरूनी हलचल की मात्रा पर। अवशीतन की गति व मात्रा निर्भर करती है ऊपर उठती हुई गर्म हवा की धारा की गुणवत्ता व तीव्रता पर। गुणवत्ता का मतलब है नमी की मात्रा तथा नमी से सने हुए रज-कण से।

(v) चार्ज की मात्रा : वोल्टेज यह निर्भर करती है बादल के उस हिस्से की मोटाई व चालकता पर जिससे वो धन और ऋण चार्ज को अलग-अलग बांट कर रखती है।

जैसे ही विद्युत्-आवेशों का अंतर (Potential difference) एक सीमा को पार करता है, तो बादलों की विद्युत्-विरोधी शक्ति यकायक टूट जाती है। उस समय बादल व हवा अपनी कुचालकता से उन विपरीत विद्युत्-आवेशों को मिलने से नहीं रोक सकती। उसका नतीजा यह होता है कि ऋण आवेश का टूटता हुआ पहाड़ “डीस्चार्ज” के रूप में बादल में कौंध जाता है जिसे हम तड़ित-विद्युत् (Lightning) या “बिजली का चमकना” कहते हैं।

बादलों के नीचे के हिस्से में जो ऋण-विद्युत् आवेश हैं, वे प्रेरण (Induction) द्वारा जमीन पर धन विद्युत्-आवेश उत्पन्न करते हैं। यद्यपि बीच में मौजूद उठती हुई वाष्प से लदी हवा इन दोनों विपरीत विद्युत्-आवेशों को पृथक् रखने की कोशिश करती है पर जब वोल्टेज अत्यंत तीव्र हो जाता है, तब उसे पार कर भारी विद्युत् डीस्चार्ज जमीन की ओर जहां न्यूनतम

अवरोध होता है वहां कड़क कर धरती पर गिरता है, इसे ही वज्रपात या बिजली का कड़कना (Thunderbolt) कहा जाता है। आगमों में यह “अशनिपात” के नाम से अभिहित है।

जमीन की सतह की खास परिस्थितियों में विलोम कड़कती बिजली भी पैदा होती है, जिसमें ऋण विद्युत्-आवेश पृथ्वी से बादल की ओर कड़कती बिजली के रूप में दौड़ पड़ते हैं। यह नजारा आमतौर पर निम्न अक्षांश वाले क्षेत्रों में पाया जाता है, जैसे—इंडोनेशिया, दक्षिण अमरीका, मध्य अफ्रीका आदि।

तडित्-विद्युत् की संरचना :

1. जो कड़कती बिजली हमें आकाश में दिखाई देती है, वह विखंडित हवा और गैस है। गैस की परत के दोनों तरफ जब विद्युत्-आवेश (Voltage) अति उच्च हो जाता है तो वो गैस की विद्युत्रोधी शक्ति में छिद्र पैदा कर देता है। उस अति उच्च वोल्टेज से गैस आयनीकृत होकर प्लाज्मा बन जाती है जो विद्युत्-चाप के रूप में प्रकट होती है। विद्युत्-चाप रूपी प्लाज्मा एक लचीला सुचालक है। पलक झपकते ही बादल की पूरी वोल्टेज निरावेशित (मुक्त) हो जाती है।

2. विद्युत्-चाप रूपी यह प्लाज्मा पदार्थ की चतुर्थ अवस्था होती है। आयनीकरण के कारण इस प्लाज्मा का तापक्रम हजारों डिग्री (300000°C) तक बढ़ जाता है। इसके भीतर की गैसों में ऋण व धन आयन के रूप में विखण्डित होकर विद्युत् प्रवाह बनाती है। जो एक कौंध के रूप में एक सिरे से दूसरे सिरे तक बहु-शाखित या लहरिया-बिजली के समान बहकर उच्च वोल्टेज को पूरा खिंचाव रहित कर देती है। यह कौंध एक ही बादल के अंदर, दो बादलों के बीच में या बादल और धरती के बीच हो सकती है।

3. इस गर्म प्लाज्मा में ऑक्सीजन, नाइट्रोजन और जल-वाष्प आदि के आयन रहते हैं। इनसे प्रकाश के फोटोन का विकिरण होता है। यह इलेक्ट्रो-मेग्नेटिक विकिरण उच्च ताप व प्रकाश के अलावा उच्च दबाव की भयंकर ध्वनि / गर्जन पैदा करता है। क्षणिक विद्युत्-चाप के समाप्त होते ही जब वोल्टेज शून्य रह जाता है, तब निस्तेज गैसों वापिस यौगिक रूप में प्रकट होती हैं। इस प्लाज्मा की उपज के रूप में ओजोन गैस तथा नाइट्रोजन आदि के अन्य ऑक्साइड और अन्य यौगिक पदार्थ पैदा होते हैं। इस प्रक्रिया से हर साल 3 करोड़ टन तक स्थिरीकृत नाइट्रोजन बनती है।

इस विद्युत्-चाप से कभी-कभी ऐसे आग-गोले बन जाते हैं जो द्रुतगति से चलकर पृथ्वी में समा जाते हैं तथा रास्ते की वस्तुओं को जला डालते हैं। साधारण विद्युत्-चाप (वज्रपात) जो आकाश से पृथ्वी पर गिरता है, वो भी रास्ते में पड़ी वस्तुओं को अपनी तीव्र गर्मी व ऊर्जा के कारण झुलसा कर जला डालता है।”

तुलसी प्रज्ञा अक्टूबर — दिसम्बर, 2003

डॉ. बिहारी छाया¹⁰⁹ अपने “बिजली” के विषय में लिखित लेख में बताते हैं-

बादल के नीचे के हिस्से में जमा हुई ऋण-विद्युत् पृथ्वी की सतह पर जमा धन विद्युत् द्वारा आकृष्ट होती है। इस आकर्षण के फलस्वरूप बादलों में से नीचे की ओर ऋण विद्युत् आवेश का एक प्रवाह बहता है और पृथ्वी की सतह के ऊपर की ओर धन विद्युत् प्रवाह बहता है। इन दोनों का संयोग हवा के मध्य में ही हो जाता है। उस समय तीव्र धन विद्युत् आवेश प्रकाश के वेग के तीसरे ($1/3 \times 3$ लाख किलोमीटर/सैकण्ड) अर्थात् लगभग एक लाख किलोमीटर प्रति सैकण्ड के वेग से गति करता हुआ दिखाई देता है। इसकी वजह से गगन में तीव्र प्रकाश की रेखा या चमक देखने को मिलती है, जिसे हम “बिजली चमकी” ऐसा कहते हैं। बिजली की एक चमक में जो विद्युत् प्रवाह बहता है, वह 20 हजार के 40 हजार एम्पियर के बराबर शक्तिशाली होता है। समझने के लिए तुलना की जाय तो 1000 वोट पावर वाले बिजली के बल्ब में केवल लगभग 4 एम्पियर का विद्युत् प्रवाह ही बहता है। जो दो बिंदु के बीच यह विद्युत् पैदा होती है, उनका इलेक्ट्रीक दबाव लगभग 20 करोड़ वोल्टेज जितना होता है। इस प्रकार 20 हजार से 40 हजार एम्पियर का विद्युत्-प्रवाह 20 करोड़ वोल्ट के विद्युत् दबाव के बीच एक तीव्र प्रकाश की चमक या रेखा “बिजली” (Lightning) है। (तुलना के लिए गृह-कार्य में प्रयुक्त विद्युत् का वोल्टेज केवल 250 वोल्ट ही होता है।) जिस समय बिजली चमकती है उस समय जो उष्मा-ऊर्जा का विकिरण होता है, उससे वहां का तापमान बढ़कर इतना तीव्र हो जाता है जो सूर्य के सतह के तापमान से भी चौगुना हो जाता है। ऐसी प्रचंड बिजली का अस्तित्व केवल एक सैकण्ड के हजारवें अंश जितने समय तक ही रहता है।

यदि इतना तीव्र विद्युत्-प्रवाह किसी प्राणी या मनुष्य के शरीर में प्रविष्ट हो जाए तो शरीर के समस्त ज्ञानतंतुओं और समस्त रक्तवाहिनियों की सर्किटें जो मस्तिष्क और हृदय के साथ जुड़ी हुई हैं, शीघ्र प्रभावित हो जाती हैं। इससे हृदय की धड़कन रुक जाती है और ज्ञानतंतुओं पर पड़ने वाले प्रभाव से श्वासोच्छ्वास की प्रक्रिया रुक जाती है। बहुत बार श्वासोच्छ्वास पुनः चालू न होने से व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है। यदि अति तीव्र विद्युत्-प्रवाह प्रवेश कर ले तो नर्वस सिस्टम की समग्र तंत्रिका-कोशिकाएं (न्यूरोन्स) नष्ट हो सकती हैं। कभी-कभी संयोगवश विद्युत्-प्रवाह की कुछ मंदता के कारण सारी तंत्रिका-कोशिकाएं नष्ट नहीं होती पर उनमें सूक्ष्म छिद्र हो जाते हैं यानी क्षतिग्रस्त हो जाती हैं।

तड़ित्-विद्युत् एवं अशनिपात को तेउकाय क्यो कहा गया ?

डॉ. जे. जैन एवं डॉ. बिहारी छाया तथा भौतिक विज्ञान की पाठ्य पुस्तकों के उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट होता है कि-

1. बिजली चमकने की प्रक्रिया खुले वातावरण में होती है। जहां अग्नि को उत्पन्न करने वाली ऑक्सीजन प्राणवायु उपलब्ध है।

2. बिजली चमकने के (प्रकाश के) साथ उष्मा-ऊर्जा का उत्सर्जन तापमान की अत्यधिक वृद्धि करता है। इससे हवा में विद्यमान ज्वलनशील गैस या अन्य सूक्ष्म पदार्थों को ज्वलन-बिंदु प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार 'अग्नि' या ज्वलन की क्रिया के लिए उपयुक्त सामग्री प्राप्त होती है यानी अग्नि की योनि या तेउकाय की योनि उपलब्ध होती है। तात्पर्य यह हुआ कि यद्यपि इलेक्ट्रीसीटी के रूप में डीस्वार्ज होने वाली ऊर्जा स्वयं पौद्गलिक होने पर भी जब बिजली चमकती है तो उसके कारण तुरंत अग्नि-दहन की प्रक्रिया के रूप में सचित्त तेउकाय की उत्पत्ति होती है। इसी कारण से "विज्जू" (आकाशीय बिजली या विद्युत्) को तेउकायिक जीवों की गणना में लिया गया है। डॉ. जे. जैन के अनुसार "बिजली खुद कोई प्रकाशक व तापक पुद्गल नहीं है। यह केवल इलेक्ट्रो-मेग्नेटिक फील्ड लिए हुए चार्ज या ऊर्जा है। यह ताप व प्रकाश आदि अन्य ऊर्जा में परिणत जरूर हो सकती है। आकाश में जब यह 'विद्युत्-चाप' बनती है तो वो ऊर्जा के अन्य रूप में परिणत हो जाने से दिखाई व सुनाई पड़ती है तथा सचित्त अग्निकाय बनती है।"¹¹⁰

इलेक्ट्रीसीटी स्वयं केवल ऊर्जा है। किन्तु जब आकाशीय विद्युत् किसी पर गिरती है, तब उच्च तापमान भी उसके साथ विकिरित होता है, जो ज्वलनशील पदार्थ को भस्मसात् कर देता है। जहां शरीर के भीतर यह प्रवेश कर लेती है वहां उसका प्रभाव नर्वस सिस्टम पर होने से वह व्यक्ति को मार देती है या शरीर के तंत्रों को क्षतिग्रस्त कर देती है। डॉ. जे. जैन के अनुसार — "बिजली का अग्नि में रूपान्तरण होने की वजह से आकाशीय विद्युत् सचित्त तेउकाय बन जाती है। कभी-कभी उसके उच्च ऊर्जा या उष्मा का परिणमन आग के गोले के रूप में भी होता है। आग के गोले तेजी से पृथ्वी के भीतर समा जाते हैं। मार्ग में भी जो कोई ज्वलनशील पदार्थ आता है, उसे वह जला देती है। ये वज्रपात (अशनिपात) (Thunder bolt) के रूप में पृथ्वी पर गिरता है, वह भी अपनी तीव्र उष्मा या तापमान के कारण मार्ग में आने वाले पदार्थों को जला कर राख बना देते हैं।"¹¹¹

डॉ. जे. जैन ने प्राण वायु के कारण आकाशीय बिजली को सचित्त माना है, इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है¹¹² -

"कुचालकता व आयनीकरण : कुचालक पदार्थों में विद्युत्-प्रवाह नहीं हो सकता है। अतः विद्युत् उनमें ताप भी पैदा नहीं कर सकती है, जैसे— लकड़ी। साधारणतया गैस में भी विद्युत् प्रवाह नहीं हो सकता है। लेकिन उच्च विद्युत् - दबाव (voltage) हजारों वोल्ट पर

गैस आयनीकृत (ionise) हो जाती है, जिससे विद्युत् प्रवाह चाप के रूप में शुरू हो जाता है। इसके अलावा यदि ऐसी गैस (जैसे जल-वाष्प या धातु-वाष्प) उसमें मिला दी जाये, जिसका आयनीकरण वोल्टेज कम होता है, तो अपेक्षाकृत कम वोल्टेज पर ही उस गैस की काफी मोटाई आयनीकृत होकर प्लाज्मा बना सकती है। जैसे आकाशीय बादल में विद्युत् चाप का पैदा होना। इसमें बादलों में इकट्ठी हुई स्टेटिक विद्युत् प्लाज्मा रूप में निरावेशित होकर प्रवाहित हो जाती है। इसमें बिजली की गर्जन, चमक व ताप पैदा होता है। इस प्रवाह को संचित माना गया है। इस प्लाज्मा में प्राणवायु से रासायनिक क्रिया भी देखने में आई है। उसमें गैस के परिवर्तन की प्रक्रिया देखी गई है।”

डॉ. जे. जैन ने विज्जू और इलेक्ट्रीसिटी की भिन्नता को बताते हुए लिखा है—
 “उत्तराध्ययन - अध्याय 36 में बादल अग्निकाय के भेद में ‘विज्जू’ शब्द से बिजली को तेरुकाय स्वीकार किया है। (यह सही तो है, लेकिन ‘विज्जू’ शब्द केवल उसी प्राकृतिक बिजली, जो आकाश में कड़कती हुई विद्युत् चाप यानि ऊष्ण-प्लाज्मा के रूप में दिखाई देती है, के लिए प्रयुक्त है। यह कृत्रिम ‘विद्युत्-ऊर्जा’ या बादलों में इकट्ठे ‘स्टेटिक-चार्ज’ की विद्युत्-ऊर्जा के लिए प्रयुक्त प्रतीत नहीं होता है।”¹¹³

अब आगम में “विज्जू”—बिजली या विद्युत् (Lightning) को संचित तेउकाय की गणना में किस अपेक्षा से माना गया है, उस अपेक्षा की स्पष्टता इस प्रकार होती है —

1. जब तक बादलों के अंदर विद्युत्-आवेश स्थित (static) इलेक्ट्रीक ऊर्जा की अवस्था में अवस्थित रहते हैं, तब तक वे केवल पौद्गलिक यानी अचित्त द्रव्य हैं।
2. जब वे इलेक्ट्रीक चार्ज हवा के आयनीकरण की वजह से “डीस्चार्ज” होते हैं, तब इलेक्ट्रोमेग्नेटीक (विद्युत्-चुम्बकीय) ऊर्जा के रूप में भी पौद्गलिक अवस्था में होते हैं।
3. जब यह ऊर्जा जो अत्यधिक तापमान सहित होती है, ज्वलनशील पदार्थों (गैस, सूक्ष्म पदार्थ) के सम्पर्क में खुली हवा (जिसमें ऑक्सीजन भी होता है) में आती है तब कबंश्चन की क्रिया घटित होकर चमकती हुई बिजली के साथ ही अग्नि का स्वरूप प्रकट हो जाता है और बिजली संचित तेउकाय बन जाती है। जहां-जहां यह ज्वलनशील पदार्थों को जलाती है, वहां-वहां सब जगह संचित तेउकाय का अस्तित्व होता है।

यह बहुत स्पष्ट समझ में आता है कि ज्वलन-बिंदु से भी अत्यधिक तीव्र तापमान और खुली हवा में ऑक्सीजन की उपलब्धि तथा ज्वलनशील पदार्थों का योग— ये सब मिलकर “विज्जू” को संचित तेउकाय बना डालते हैं। इसी प्रकार अशनिपात या वज्रपात भी तीव्र अग्नि का रूप बन जाता है।

इलेक्ट्रीसीटी और अग्नि (तेउकाय)

केवल पौद्गलिक परिणमनों की निष्पत्ति-रूप शुद्ध इलेक्ट्रीसीटी और ज्वलन क्रिया की निष्पत्ति रूप तेउकायिक जीव के रूप में उत्पन्न अग्नि की भिन्नता को अनेक आधारों पर स्पष्ट समझा जा सकता है—

1. लकड़ी, रबड़, कपड़ा आदि विद्युत् के कुचालक हैं तथा ताप (उष्मा) के भी कुचालक हैं, जबकि लोहा, तांबा आदि धातु विद्युत् के सुचालक हैं तथा ताप (उष्मा) के भी सुचालक हैं।

2. लकड़ी आदि ज्वलनशील होने से ऑक्सीजन का योग मिलने पर शीघ्र जल जाते हैं। लोहा आदि धातु साधारण तापमान पर जलते नहीं, केवल गर्म होते हैं। अत्यधिक तापमान पर भी यदि ऑक्सीजन न मिले तो धातु गर्म होकर प्रकाशित हो जाती है तथा पिघलनांक बिन्दु पर तरल हो जाती है, जलती नहीं।

3. मिट्टी, धूल, पृथ्वी (पत्थर आदि) विद्युत् के सुवाहक हैं पर अग्नि की दृष्टि से अज्वलनशील हैं तथा अग्निशामक हैं।

4. अग्नि में पदार्थ नष्ट होता है या खत्म होता है तथा उसमें पदार्थ के रासायनिक ढांचे में बदलाव आता है।

हाइड्रोकार्बन इंधन जलकर गैस के रूप में (CO_2 और H_2O आदि के रूप में) परिवर्तित होते हैं या अन्य इंधन जलकर ठोस अवशेष (राख, कोयला) में बदल जाते हैं। ये राख आदि (non-fuel) इंधन नहीं होते हैं। रासायनिक क्रिया द्वारा इनका पर्याय बदलता है। घर्षण की अग्नि में पहले घर्षण से गर्मी पैदा होती है, गर्मी से उस पत्थर के बारीक टूटे कण 'लाल' रंग में चमकने लगते हैं - फिर 'हवा' से रासायनिक प्रक्रिया करके अग्नि पैदा करते हैं। (चकमक की अग्नि)।¹¹¹⁴

5. पानी अग्नि को बुझा देता है, उसका शस्त्र है। किन्तु (ionised) पानी में विद्युत् का प्रवाह गुजर सकता है। इलेक्ट्रोलाइसीस की प्रक्रिया में पानी के भीतर विद्युत् प्रवाहित कर हाइड्रोजन-ऑक्सीजन को अलग-अलग किया जाता है। उच्च वोल्टेज की विद्युत् गीली दीवार या नम (शीलन) वाली भूमि में आसानी से प्रविष्ट हो जाती है जो बहुत बार खतरे का कारण बन जाता है। इस प्रकार अग्नि का शस्त्र पानी अग्नि बुझाने वाला है पर विद्युत्वाही बन सकता है।

6. केरोसीन जैसा ज्वलनशील पदार्थ आक्सीजन का संयोग होने पर जल उठता है, पर ई.डी.एम. मशीन में उसे कूलनेट (coolant) के रूप में काम लिया जाता है तथा स्पार्किंग के बावजूद भी आक्सीजन के अभाव के कारण जलता नहीं है। (इस विषय को अगले अंक में पढ़ें ...)

सन्दर्भ ग्रन्थ :

62. आचारांग सूत्र (आयारो), प्रथम अध्ययन।
63. दशवैकालिक सूत्र (दसवेआलियं), चतुर्थ अध्ययन।
64. प्रज्ञापना सूत्र (पणवणा), 1/24-26
65. आचारांग सूत्र, 1/66 “जे लोगं अब्भाइक्खइ, से अत्ताणं अब्भाइक्खइ। जे अत्ताणं अब्भाइक्खइ, से लोगं अब्भाइक्खइ ॥”
66. दशवैकालिक सूत्र (दसवेआलियं), 4/20- “से अगणिं वा इंगालं वा मुम्मुरं वा अच्चिं वा जालं वा अलायं वा सुद्धागणिं वा उक्कं वा.....”
67. प्रज्ञापना सूत्र (पणवणा), 1/24-26
“से किं तं तेउक्काइया ? तेउक्काइया दुविहा पणत्ता,
तं जहा- सुहुमतेउक्काइया य बादरतेउक्काइया य ॥
से किं तं सुहुमतेउक्काइया ? सुहुमतेउक्काइया दुविहा पणत्ता,
तं जहा - पज्जत्तगा य अपज्जत्तगा य से तं सुहुम तेउक्काइया ॥
से किं तं बादरतेउक्काइया ? बादरतेउक्काइया अणेगविहा पणत्ता, तं जहा - इंगाले जाला मुम्मुरे अच्ची अलाए सुद्धागणी उक्का विज्जू असणी णिग्घाए संघरिससमुट्टिए सूरकंतमणिणिसिआए। जे यावण्णे तहप्पगारा ते समासतो दुविहा पणत्ता, तं जहां पज्जत्तगा य अपज्जत्तगा य। तत्थ णं जेते अपज्जत्तगा ते णं असंपत्ता। तत्थ णं जेते पज्जत्तगा एएसि णं वण्णादेसेणं गंधादेसेणं रसादेसेणं फासादेसेणं सहस्सगसो विहाणाइं, संखेज्जाइं जोणिप्पमुहसयसहस्साइअं। पज्जत्तगणिसिआए अपज्जत्तगा वक्कमंति - जत्थ एगो तत्थ णियमा असंखेज्जा। से त्ता बादरतेउक्काइया। से तं तेउक्काइया ॥”
68. दसवेआलियं, 4/20 का टिप्पण, पृष्ठ 152, 153
69. (क) जि.चू. (जिनदास चूर्णि) पृ. 155-56 अगणी नाम जो अयपिंडाणुगयो फरिसगेज्जो सो आयपिंडो भण्णइ।
(ख) हा.टी. (हारिभद्रीय टीका) पृ. 89 अयस्पिण्डानुगतोऽग्निः
70. (क) अ. चू. (अगस्त्य चूर्णि) पृ. 89 : इंगलां वा खदिरादीण णिद्धुण धूमविरहितो इंगालो।
(ख) जि.चू. पृ. 156 : इंगालो नाम जालारहिओ।
(ग) हा.टी.पृ. 154 ज्वालारहितोऽङ्गारः।
71. (क) अ.चू. पृ. 89 : करिसगादीण किंचि सिट्ठो अग्गी मुम्मुरो।
(ख) जि. चू. पृ. 156: मुम्मुरो नाम जो छाराणुगओ अग्गी सो मुम्मुरो।
(ग) हा.टी. पृ. 154 : विरलाग्निकणं भस्म मुर्मुः।
72. (क) अ.चू. पृ. 89 : दीवसिहासिहरादि अच्ची।
(ख) जि. चू. पृ. 156 : अच्ची नाम आगासाणुगआ परिच्छण्णा अग्गिसिहा।
(ग) हा.टी. प. 154 : मूलाग्निविच्छन्ना ज्वाला अर्चिः।

73. (क) अ.चू. पृ. 89 : उदितोपरि अविच्छिन्ना जाला ।
 (ख) जि.चू. पृ. 156 : ज्वाला पसिद्धा चेव ।
 (ग) हा.टी.प. 154 : प्रतिबद्धा ज्वाला ।
74. (क) अ.चू. पृ. 89 : अलातं उमुतं ।
 (ख) जि. चू. पृ. 156 : अलायं नाम उम्मुआहियं पंज (पज्ज) लियं ।
 (ग) हा.टी.प. 154 : अलातमुल्मुकम् ।
75. (क) अ.चू.पृ. 89 एते विंसेसे मोत्तूण सुद्धागणि ।
 (ख) जि.चू.पृ. 156 : इंधणरहिओ सुद्धागणि ।
 (ग) हा.टी.प. 154 : निरिन्धन : शुद्धोऽग्निः ।
76. (क) अ.चू. पृ. 89 : उक्का विज्जुतादि ।
 (ख) जि.चू.पृ. 156 : उक्काविज्जुगादि ।
 (ग) हा.टी.प. 154 : उल्का - गगनाग्निः ।
77. प्रज्ञापना वृत्ति, पत्र - 29 ।
1. अंगारो - विगतधूमः
 2. ज्वाला-जाज्वल्यमानरवादिरादिज्वाला । अनलसम्बद्ध दीपशिखत्यन्ये ।
 3. मुर्मुः - फुम्फकादौ भस्ममिश्रिताग्निकणरूपः
 4. अर्चि - अनला प्रतिबद्धा ज्वाला
 5. अलातं - उल्मुकं
 6. शुद्धाग्नि - अयःपिण्डादौ
 7. उल्का - चुडुल्ली
 8. विद्युत् - प्रतीता
 9. अशनिः - आकाशे, पतन् असिमयः कणः ।
 10. निर्घातो - वैक्रियाशनिप्रपातः
 11. संघर्षसमुत्थितः— अरण्यादिकाष्टनिर्मथनसमुद्भूतः ।
 12. सूर्यकांतमणिनिःसृतः सूर्यखरकिरणसम्पर्क सूर्यकांतमणेर्ये समुपजायते ।
78. आचारांग निर्युक्ति, गाथा 117, 118
 “दुविहा य तेउजीवा सुहुमा तह बायरा च लोगंमि ।
 सुहुमा य सव्वलोए पंचेव य बायर विहाणा ॥
 इंगालं अगणि अच्ची जाला तह मुम्मुरे य बोद्धव्वे ।
 बायरतेउविहाणा पंचविहा वण्णिया एए” ॥
79. (अ) मूलाचार, गाथा 221—
 “इंगाल-जाल-अच्ची-मुम्मुर-सुद्धागणी य अगणी य ।
 ते जाण तेउजीवा, जाणित्ता परिहरेदव्वा ॥”

- (ब) जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग-1, पृष्ठ 35, अग्नि शब्द में उद्धृत “धुआं रहित अंगार, ज्वाला, दीपक की लौ, कंडा की आग और वज्राग्नि, आकाशीय बिजली आदि से उत्पन्न शुद्ध अग्नि, सामान्य अग्नि— ये तेजस्कायिक जीव हैं।”
80. (अ) दशवैकालिक सूत्र पर अगस्त्य सिंहकृत चूर्णि, पृष्ठ 88
“अंतरिक्षपाणितं सुद्धोदगं।”
- (ब) दशवैकालिक सूत्र पर जिनदास महत्तरकृत चूर्णि, पृष्ठ 155
“अंतलिखपाणियं सुद्धोदगं भण्णई।”
- (स) दशवैकालिक सूत्र पर हारिभद्रीयटीका, पत्र 153 “शुद्धोदकम् - अन्तरिक्षोदकम्।”
(दसवेआलियं, आचार्य महाप्रज्ञ कृत टिप्पण, पृष्ठ 15 में उद्धृत)
81. प्रज्ञापना टीका, पत्र 30 (अ) “शुद्धवातो मन्दस्तिमितो, बस्तिइत्यादिगत इत्यन्ये।”
82. भगवती सूत्र, शतक 16, उद्देसक 1, सूत्र 5 - “इंगालकारियाए णं भंते! अगणिकाए केवतियं कालं संचिद्दइ ?
गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिण्णि राइंदियाइं। अण्णे वि तत्थ वाउयाए वक्कमंति, न विणा वाउयाएणं अगणिकाए उज्जलति।”
83. आचार्य महाप्रज्ञ, आचारांग-भाष्यम्, पृष्ठ 54 -
“वृत्तावपि सचेतनोऽग्निरन्यथा योग्याहारेण वृद्धि दर्शनात्, तदभावे च तदभावदर्शनात्।
आधुनिका अपि मन्यन्ते - प्राणवायु मगृहीत्वा नाग्ने रुद्दीपनं जायते।”
(हिन्दी अनुवाद) “वृत्ति में भी कहा गया है कि अग्नि सचेतन है, क्योंकि उसमें, उचित आहार - ईंधन से वृद्धि और ईंधन के अभाव में हानि होती है। आधुनिक वैज्ञानिकों का भी यही मानना है कि प्राणवायु (आक्सीजन) के बिना अग्नि प्रज्वलित नहीं होती।”
84. A.K. Shaha, Combustion Engineering and Fuel Technology, p. 67-68-
“Here it will not be out of place to glance at different successive beliefs and theories put forth to explain the wonderful phenomenon of “fire”.
The existence of fire was known to people from the very primitive age. The ancient Greeks in their legends indicated that Prometheus, the mythological creator of human beings, brought fire to the people from heaven, stealing it from the altar of the father - God Jupiter. From this myth, however, some hints led to a more authentic historical accounts, according to which the existence of fire came to the knowledge of the primitive man during thunderstorm. Fire descended from the black clouds the primitive man saw a tree set ablaze by the lightning; with curiosity he ran to the tree, stretched his hand to the beautiful bright tongues of the flame, but in the moment felt an unbearable pain. The flying sparks burnt the front of the skin, warped around his waist; with surprise of a beast man fell down to the feet of the burning tree, worshipping it as God. Then he brought the burning wood to his

cottage, kept it with care as the gift of God and tried to get benefit out of it. Some time later primitive people learnt how to create fire themselves with the help of flints. Fire brought to the man the rudiments of culture. Fire heated the primitive dwelling during the cold season, lighted it in the dark evenings, whereas food taken from the fire was hot and tasteful to eat. For all this primitive man, naive and helpless in his ignorance, considered fire as God and offered sacrifices to it.

The cult of God of fire passed through the entire ancient world of Heathendom:

Egypt, India, Persia, Greece, Syria, Rome. It survived even when people rose to the higher level of cultural development. In the old Russia, or as it was then called Skythia, there existed also the cult of Perun, the God of Fire and Thunder. Even today fire-worshippers are dwelling at some places of Afghanistan and India. Such were the great bounties the fire brought to Humanity. And with the development of culture fire began to render more and more benefits to the Man.

In the Middle age people have already abandoned the worship of fire as divinity; the scientists began to study the phenomenon of fire and came to the conclusion that the combustion of a substance is the escape from this substance of a subtle and imponderable element, which they termed as "Phlogiston".

85. A.K. Shaha, Combustion Engineering and Fuel Technology, p. 68 — "After about 300 years, with the development of experimental chemistry, the scientists, amongst them the famous A.L. Lavoisier (1743-94) came to the conclusion that combustion means combination of a substance with the oxygen, with resulting evolution of heat. Finally, about 50 years ago, experiments showed that in the absolute absence of water-vapours, combustion of a substance does not occur or occurs with great difficulty. This means that combustion is fostered considerably by the presence of steam or moisture.

With further research on combustion still due, it may be said that in the process of flame-less combustion, or perfect combination of gas and oxygen on the incandescent refractory surface, the surface shows negative charge, which leaves room to believe that combustion or combination of a substance with the oxygen means ionisation of the reacting substances."

86. A.K. Shaha, Combustion Engineering and Fuel Technology, p. 28 — "Fuel is a substance which, when burnt, on coming in contact and reacting with oxygen or air, produces heat. Thus, the substances classified as fuel must necessarily contain one or several of the following combustible elements: carbon, hydrogen and hydro-carbons."

87. A.K. Shaha, Combustion Engineering and Fuel Technology, p. 28—
“Fuels may be classified in various ways, i.e., 1. According to the physical state in which they exist in nature-solid, liquid and gaseous”
88. A.K. Shaha, Combustion Engineering and Fuel Technology, p. 128—
“Chemical reactions among substances take place more quickly and intensively, the closer is the contact among the reacting substances and the larger the surface of contact. The duration of a chemical reaction depends upon thermal conditions, which might be created either before the beginning of reaction, or during the reaction. All chemical reactions, in the present case combustion, i.e., combination of substances with oxygen, are based on the above mentioned principles. Combustion or combination of substances with either pure oxygen or oxygen contained in the air is realised in practice with the help of different contrivances, the so-called burners.”
89. A.K. Shaha, Combustion Engineering and Fuel Technology, p. 129—
“In order to get a high temperature and a short flame, it is necessary to have, prior to commencement of combustion, a perfect mixture of fuels with oxygen. Thus whenever we are to burn either solid, liquid or gaseous fuels, we are to mix them with air in gaseous state.”
90. Prof. Dr. A.K. Shaha, Combustion Engineering & Fuel Technology, pp. 121-122—
“There is a specific flash temperatures, at which each kind of fuel ignites. In the table, the ignition of flash temperature of various fuels are given: Ignition Temperatures (At Atmospheric Pressure) of Gases, Liquids and Solids

| Substance | Ignition temperature | Ignition temperature |
|--|----------------------|----------------------|
| | In air | in oxygen |
| Degrees Centigrade | | |
| Hydrogen (H ₂) | 580-590 | 580-590 |
| Carbon monoxide (CO) | 644-658 | 637-658 |
| Methane (CH ₄) | 650-750 | 556-700 |
| Ethane (C ₂ H ₆) | 520-630 | 520-630 |
| Propane (C ₃ H ₈) | — | 490-570 |
| Ethylene (C ₂ H ₄) | 542-547 | 500-519 |
| Acetylene (C ₂ H ₂) | 406-440 | 416-440 |
| Hexane (C ₆ H ₁₄) | 487 | 268 |

| Substance | Ignition temperature | Ignition temperature |
|---|----------------------|----------------------|
| | In air | in oxygen |
| Degrees Centigrade | | |
| Decane (C ₁₀ H ₂₂) | 463 | 202 |
| Benzol (C ₆ H ₆) | 740 | 662 |
| Toluol | 810 | 552 |
| Phenol | 715 | 574 |
| Aniline | 770 | 530 |
| Methyl alcohol | — | 555 |
| Ethyl alcohol | 558 | 425 |
| Propyl alcohol | 505 | 445 |
| Isopryl alcohol | 590 | 512 |
| n-Butyl alcohol | 450 | 385 |
| Amyl alcohol | 409 | 390 |
| Ethyl ether | 343 | 178 |
| Glycerine | 500 | 414 |
| Acetone | 700 | 568 |
| Sugar | 385 | 378 |
| Cylinder Oil | 417 | 320 |
| Pennsylvania crude | 367 | 242 |
| Gas oil | 336 | 270 |
| Kerosene | 295 | 270 |
| Acetaldehyde | 185 | 140 |
| Benzaldehyde | 180 | 168 |
| Lignite | 225 | — |
| Wood | 295 | — |
| Charcoal | 350 | — |
| Brown Coal | 370-450 | — |
| Coal | 477 | — |
| Coke and Anthracite | 700 | — |

91. डॉ. जे. जैन, अप्रकाशित लेख, पृ. 4
92. वही, पृ. 13
93. वही, पृ. 4,5
94. वही, पृ. 5
95. वही, पृ. 15
96. वही, पृ. 14

97. वही, पृ. 41, 42

98. वही, पृ. 35, 36

99. Prof. G. R. Jain, op. cit., p. 125

“The range of temperatures existing in Nature is again very wide, and what little has come under the measuring rod of a physicist has revealed very striking contrasts. The temperature of ice physicists call zero and the temperature of boiling-water 100 degrees (centigrade). The temperature of bodies colder than ice are called minus temperature and mathematical calculations show that the lowest possible temperature in Nature cannot be less than minus 273 degrees. Mercury hardens into a solid mass at a minus 40 degrees. Just as the steam is converted into liquid water on cooling, so is air by artificial cooling converted into liquid air at minus 190 degrees. Helium gas is converted into liquid or solid helium at minus 269 degrees. Some other interesting temperatures are

| | |
|---|----------------------|
| Gold melts at | 1,062 degrees |
| Platinum melts at | 1,770 degrees |
| Tungsten melts at | 3,400 degrees |
| Temperature of burning charcoals | 1,300 degrees |
| Temperature of electric carbon arc | 3,500 degrees |
| Surface temperature of the sun | 5,500 degrees |
| Central temperature of the sun | two crores degrees |
| Highest temperature estimated in stars by Eddington | four crores degrees. |

(see the Internal Constitution of the Stars, by Eddington.).

If we probe into our own atmosphere we find that the temperature gradually falls as one goes higher up untill at about a height of 11 miles just over the equator temperature has a value minus 55 degree- a temperature well suited to petrify even mercury. Further on up to a height of 23 miles the temperature remains steady, beyond which it increases to that of spring season, i.e., about 30°C. This is enough to show that temperature of things is measurable from one point of view and the infinite shades of it, it is impossible to enumerate. The extremes of temperatures existing in the regions of the Hell are expressed in the following verse of Chaha Dhala:

गिरि सम लोह गलै जम जाय, ऐसी शीत उष्णता थाय ।

100. J.S. Zaveri and Muni Mahendra Kumar, *Microcosmology*, pp. 53, 54—

“We have already observed that matter and energy are two different manifestations of one and the same cosmic entity, instead of being two different entities. Matter instead of being immutable was energy in a frozen state, while conversely, energy was matter in a fluid state. The liberation of energy in any form— chemical, electrical or nuclear— involves the loss of an equivalent amount of mass.

Liberation of Energy

It is well known that most chemical reactions liberate energy, simplest instance being burning of coal. The chemical union, in this case, is that of carbon and oxygen in the form of molecular fusion. When 3000 tons of coal are burnt to ashes, the residual ashes and the gaseous products weigh one gram less than 3000 tons, that is, one three-billionth part of the original mass will have been converted into energy.

Thus oxygen (O) + carbon (C) = carbon monoxide (CO) + energy.

This reaction would give 92 units of energy per gram of mixture. If instead of molecular fusion of these two atomic species, we have a nuclear fusion between their nuclei $6\text{C}^{12} + 8\text{O}^{16} = 14\text{Si}^{28} + \text{energy}$ — the energy liberated per gram of mixture will be 14×10^9 units, i.e., 15,00,000 times as great. In the liberation of chemical energy by the burning of coal, the energy comes from a very small mass i.e. loss of mass resulting from the rearrangement of the electrons on the surface of atoms. The nuclei of the carbon and oxygen atoms are not involved in any way, remaining exactly the same as before. The amount of mass lost by the surface electrons is one thirteenth of one millionth of one percent. On the other hand, nuclear energy involves vital changes in the atomic nucleus itself, with a consequent loss of as high as 1/10 to nearly 8/10 of 1% in the original mass of the nucleus. This means that from 1 to nearly 8 gms. Per 1000 gms are liberated in the form of energy, as compare with only 1 gm in 3 billion gms liberated in the burning of coal. In other words, the amount of nuclear energy, liberated in the transmutation of atomic nuclear is from 30,00,000 to 2,40,00,000 times as great as the chemical energy released by the burning of an equal amount of coal. Whereas most chemical reaction would take place easily at temperatures of a few hundred degrees, corresponding nuclear transformations would not even start before the temperature reached many million degrees.”

101. Gromber and Gupta, op.cit., p. 8/1—

Concept of Heat

We know that when a piece of red hot iron is dropped into a beaker containing water, the water becomes hot and the red hot iron piece cools down till the temperatures of the two become equal. It appears that 'something' has flown from red-hot iron piece to water. This something which flows from a body at higher temperature to another body at lower temperature, when the two are in contact, is called, "Heat". Time caloric theory managed to explain some of the observed effects of heat e.g. rise/fall in temperature of a body, expansion/contraction of a body, change in state of a body from solid to liquid and from liquid to gas and so on.

However, caloric theory failed to explain the production of heat on account of friction. For example when we rub our hands against each other, we feel warm. Similarly, when two piece of metal are rubbed together, heat is produced. The famous paddle wheel experiment performed by Joule also led to the production of heat by friction between the rotating paddle and water.

These observations led to the **Dynamic theory of heat**, according to which heat is a form of energy called thermal energy.

Every body is made up of a large number of tiny particles, called molecules. Depending on the nature of the substance (solid, liquid or gas) and temperature of the substance, the molecules may possess:

- (i) translatory motion i.e. motion along straight lines
- (ii) vibratory motion i.e. to and fro motion about the mean position of the molecules
- (iii) rotatory motion i.e. rotation of the molecules about their axis.

102. Gomber and Gupta, op.cit, p. 8/1—

Thermal Radiations

Thermal radiations are those, which produce in us the sensation of warmth. They are emitted by a body on account of its temperature. It was established later that every body whose temperature is above 0K emits thermal radiations.

The energy emitted depends on

- (i) the temperature of the body
- (ii) nature of radiating surface of the body

The wavelength of thermal radiation's ranges from $8 \times 10^{-7} \text{m}$ to

$4 \times 10^{-4} \text{m}$ they belong to infra-red region of the electromagnetic spectrum. That is why thermal radiations are also called infra-red radiations.

Some of the basic characteristics of thermal radiations are:

1. They travel along straight lines with the speed of light.
2. They require no medium for their propagation i.e. they can pass through vacuum too.
3. They do not heat the intervening medium through which they pass.
4. They obey inverse square law i.e. their intensity varies inversely as the square of the distance from the source.
5. They can be reflected and refracted according to the laws of reflection and refraction of light.
6. Thermal radiations also exhibit the phenomena of interference, diffraction and polarization as do the light radiations.

The only major difference between the thermal radiations and light radiations is in their wavelength. Whereas the wavelength of thermal radiations lies in the range of $8 \times 10^{-7} \text{m}$ to $4 \times 10^{-4} \text{m}$. Thus thermal radiations are of longer wavelength or smaller frequency and hence smaller energy as compared to the visible light.”

103. Text book of Physics (XII Std.) Part – I) pp.161, 162—

Convection of Heat: In fluids, the heat transfer takes place mainly by the process of heat convection. When a fluid is heated from below it expands and hence its density decreases. So the hotter fluid comes above under the effect of buoyancy and the heavier, cooler fluid sinks under the force of gravity. This way the entire mass of fluid gets heated. Hot and cold air currents in the atmosphere are due to non uniform heating of the atmosphere and the associated effects of heat convection.

Thermal Radiation: Any substance radiates electromagnetic radiations of different frequencies to an extent that depends on its temperature. This radiation is called the thermal radiation. Energy associated with the electromagnetic radiation of the thermal radiation is called the radiation energy.

In a given thermal radiation how the radiated energy is distributed at different frequencies depends upon the temperature and the nature of the radiating body. For example, piece of iron when heated, first appears dark reddish, then as gets more hot it shines yellowish red, and at still higher temperature, whitish.

When we warm ourselves near a coal stove, we absorb energy contained in different frequencies of electro magnetic radiations; being emitted by hot charcoals.

Here the heat energy propagates through radiation.

Stephen-Boltzmann Law

In the year 1879, a scientist named Stephen experimentally showed that “ the amount of energy radiated by a surface, in the form of thermal radiation, per unit area per second is proportional to the fourth power of its absolute temperature.” The same fact was theoretically established by Boltzmann in the year 1884. The statement is known as Stephen-Boltzmann law.

The amount of energy radiated per second per unit area at a given temperature is called the total emissive power. The total radiated energy includes the entire amount integrated over all the frequencies of electromagnetic spectrum. So according to stephen Boltzmann law.

$$W = e o T^4$$

Here T, is the absolute temperature, e is know as the emissivity of the radiating surface, —is called the Stephen-Boltzmann constant. It is a universal constant and has value of = $5.67 \times 10^{-8} \text{ Watt/met}^2 \cdot \text{K}^4$ ”

104. Ibid, pages 199, 200—

“In reality the electric current in solids is due to motion of electrons, so one may say that a unit negative charge has an electrical energy of V Joule at the negative terminal.

We have also studied in the previous chapter that when the electrons acquire drift they experience collisions with the positive ions oscillating about their mean position; and the energy acquired by electrons is partly handed over to the ions making their oscillations more energetic. This increase in the energy of oscillations of the ions is manifested as heat, causing an increase in the temperature of the conductor.

The heat energy released in a conductor on passage of an electric current is called the “Joule heat” and the effect is called the “Joule effect”.

If the potential difference applied across two ends of a conductor is V; it means that when a unit charges passes through the conductor, an amount of electrical energy equal to V Joule is utilized.

If Q coulomb of charge passes through the conductor in t seconds then the electrical energy utilization in t seconds = heat energy produced during this time.

Joule's Law: "The heat produced per unit time, on passing an electric current through a conductor at a given temperature, is directly proportional to the square of the current".

The law is named after the scientist Joule; who also gave the conversion from Joule to Calori; which is the more useful unit for heat. According to that.

1 caloric=4.2 jule. The number "4.2" is commonly denoted by a symbol J and is called the "mechanical equivalent of heat".

105. अग्नि की क्रिया में वायु रूप इंधन की रासायनिक क्रिया को समझाने के लिए कुछ व्याख्याएं इस प्रकार प्रस्तुत हुई हैं, जिसे अग्नि के रासायनिक रूप का केवल भौतिक परिणाम से भिन्नत्व स्पष्ट होता है देखें,

A.K. Shaha, Combustion Engineering and Fuel Technology, p. 74, 75—
"Theory and Mechanism of Combustion

The combustion of a gaseous substance is the combination of oxygen with the combustible gas. The intermediate stages through which the gas passes from its initial condition to the final product of combustion are termed as mechanism of reaction.

Usually a combustible gas consists of carbon monoxide, hydrogen and hydrocarbons. The mechanism of combustion reactions of these elements will be considered separately.

Carbon Monoxide

It is a well known fact that in presence of water vapours carbon monoxide burns quickly and intensively. In absolute absence of water vapours the combustion of carbon monoxide almost ceases. This phenomenon can be explained as follows: at the first instance the water vapours are endowed with the high electrical conductivity which helps to increase the process of ionization: secondly, steam molecules colliding with those of carbon dioxide (CO_2) obstruct radiation of heat by carbon dioxide molecules, which are formed during the combustion. In absolute absence of water vapours there would be a considerable loss of heat due to radiation and thus the combustion would proceed slowly.

Hydrogen

It has been finally established that hydrogen burns first in preference to carbon. According to Dixon, a struggle arises between the carbon and hydrogen for combination with the oxygen.

Hydrocarbons.

There are two hypotheses regarding the combustion of hydrocarbons: hydroxylation and peroxidation.

The essence of mechanism of hydroxylation, according to Bone, is that there is an initial association of oxygen with the hydrocarbon molecule, forming intermediate "Hydroxylated" compounds, which in turn burn or are broken down thermally.

The combustion of gaseous hydrocarbons takes place by an interaction of hydrocarbon with oxygen, forming an intermediate unstable "hydrogenated" compound.

Two examples of hydroxylation of gaseous hydrocarbons are given below: According to theory of peroxidation, worked out by Academician Bakh in Russia as early as 1897, the first product of combustion is not the hydrate but the active unstable peroxide, which in course of further reactions acts as a catalyst and activates the molecules of combustible mixture."

106. (A) Satish K. Gupta, op. Cit. P. 741—

Earth's Atmosphere

The gaseous envelope surrounding the earth is called earth's atmosphere. At sea level, by volume, dry air contains 78.08% nitrogen, 20.95% oxygen, 0.93 % argon, 0.03% carbon dioxide, 0.0018% neon and traces of gases such as helium, krypton and xenon. In addition to the above, air contains water vapours, hydrocarbons, hydrogen peroxide, sulphur compounds and dust particles. The composition of earth's atmosphere varies very slightly with altitude. It remains same up to a height of 100 km but its density goes on decreasing as we go up. The earth's atmosphere has no sharp boundary. It has divided into a number of regions (or layers). They are as explained below:

1. **Troposphere.** This region extends up to 12 km from the surface of the earth. Its density varies from 1 kg m^{-3} at the surface of earth to 0.1 kg m^{-3} at the top of this layer. All the water vapours of the atmosphere are contained in this layer. In this part of atmosphere, temperature decreases with height from 290 K to 220 K.
2. **Stratosphere.** This region of atmosphere extends from 12 km from the surface of earth up to 50 km and it forms practically clear sky. The density of atmosphere in this region varies from 0.1 kg m^{-3} to 10^{-3} to $10^{-3} \text{ kg m}^{-3}$ and the temperature varies from 220 K to 280 K. At the upper extreme of this region, there is a layer of ozone between 30 to 50 km from the surface of earth, in which most of the atmospheric ozone is concentrated. It is responsible

for absorbing a large proportion of ultra-violet radiation radiated by the sun and this layer protects the life on earth from its harmful effects. The ozone layer is also called ozonosphere.

3. **Mesosphere:** The region of earth's atmosphere between 50 to 80 km from the surface of earth is called mesosphere. The density of the atmosphere in this region varies from 10^{-3} kg m^{-3} to 10^{-5} kg m^{-3} and the temperature varies from 290 K to 180 K.

106 (B) Text book of Physics, (Std. XII), Part II, pages 100, 101 –

Electromagnetic Radiations and Earth's Atmosphere

Electromagnetic radiations passing through different media suffer effects like scattering, refraction, reflection, polarization and absorption. The effects produced by the electromagnetic radiations of different wavelengths during their passage through the earth's atmosphere are of particular importance to us.

The following points are to be noted :

- (1) As you go above earth's surface, density of the atmosphere goes on decreasing, but there is no sharp limit to the atmosphere above.
- (2) Upper layers of the atmosphere are partially ionized; i.e. they have atoms ionized to electrons and positive ions. This layer is called the ionosphere
- (3) Layers of the atmosphere below the ionosphere are mostly of neutral atoms and molecules.
- (4) Molecules of water are mostly confined to the lowest layer called the troposphere.
- (5) There is a significant amount of Ozone (O_3) gas in the height range 30 to 50 kilometers.

106. (c) Satish K. Gupta, op.cit, pages 137, 138

The Atmosphere and Electricity

The earth's atmosphere extends upto about 400 km above the surface of the earth. The electrical properties of the atmosphere goes on changing, as one goes up from the surface of earth. On the basis of these electric ... properties the earth's atmosphere has been divided into following four layers:

1. Troposphere, 2. Stratosphere, 3. Mesosphere, 4. Ionosphere.

The electrical properties and the phenomena occurring in the

atmosphere are mainly due to troposphere and stratosphere. The troposphere extends up to 12 km from the surface of earth, while the stratosphere extends from 12 km to about 50 km from the surface of the earth.

The earth is good conductor of electricity and at low altitude, atmosphere is poor conductor of electricity. The small conductivity of the atmosphere is due to the ionization produced by the high energy particles of the cosmic rays, which are constantly hitting the earth from the outer space. The conductivity of space is greatly influenced by the presence of dust particles and by the humidity conditions. However as we go up the conductivity of the atmosphere goes on increasing. At the top of the stratosphere i.e. at a distance of 60 km from the surface of the earth, the atmosphere is quite a good conductor of electricity. The electrical phenomena in atmosphere take place between the surface of earth acting as one conducting layer's and the top of the stratosphere (acting as the other conducting layer), which are separated by a thick atmosphere of varying conductivity. The two layers form a spherical capacitor of large capacitance which can be calculated.

Now we state a few experimentally observed facts about electrical properties of atmosphere:

1. At ground level, there is a downward electric field of about 10^2 m^{-1} all over the earth. This goes on decreasing with height. At 10 km above the surface of earth, it becomes quite small, while at end it is negligible.
2. There is a potential difference of the order of $4 \times 10^5 \text{ V}$ between the surface of earth and that of the stratosphere. Most of the potential difference occurs at low altitudes.
3. Due to downward electric field at ground level, earth has a negative surface charge density over the surface of earth.
The negative surface charge density of the earth is 10^{-9} cm^{-2} .
total charge on the surface of the earth is $= -5 \times 10^5 \text{ C}$
4. The top of the stratosphere has an equal positive charge i.e. $+5 \times 10^5 \text{ C}$ the potential difference between the earth's surface and that of the stratosphere should be $5 \times 10^6 \text{ V}$
However, the observed value ($4 \times 10^5 \text{ v}$) is much lesser. The explanation for this difference is the fact that the intervening air becomes more and more conducting as we go up.

5. Due to the downward electric field, the positive ions continuously flow into earth and the negative ions ascend. The current flowing per unit has been estimated to be about 3×10^{-12} Cs. In other words, about +1800 C of charge is being pumped into earth second. As such, the negative charge ($= -5 \times 10^5$ C) on the earth would get neutralized in a few moments. However, it does not happen at all. It is because of thunderstorm and lightning flashes occurring world wide.

Steady condition of earth atmosphere:

It can be explained on the basis of the following experimental observations.

1. On the average, about $4 \times 10^4 = 40,000$ thunderstorms occur per day world wide. In other words a thunderstorm occurs every two seconds in the world some where. It lasts for about one hour.
2. During each thunderstorm, positive charges are carried upwards to a height of about 6 km about the surface of earth, while the negative charges collect at about 2-3 km above the earth. Thus, the top of a cloud gets positively charged and its bottom negatively charged.
3. Due to separation of charges, a potential difference of the order of 2×10^7 V to 10^8 V is created between the earth and bottom of the cloud. (The bottom of the cloud may carry a total negative charge between $-20c$ to $30c$.) Such a big potential difference across the 3 km thickness of atmosphere creates an electric field, which is of the order of 10^4 V m^{-1} to 3×10^4 V m^{-1} in upward direction.
4. Due to this high electric field, air gets ionized and becomes conducting. Towards the end of thunder storm, it allows large amount of negative charges in bursts along narrow pathways from clouds to earth.
5. In the concluding stage of a storm, there are about 200 flashes or bolts in a storm 2×10^{-3} s. Each bolt carries negative charge to the earth and about $-20C$ charges is deposited on earth. There are about 100 bolts of lightning per second through out the world.
6. The peak current in each bolt of lightning is about -10^4 C s^{-1} . After each bolt the thunder storm gets charged again and is ready for next bolt. Thus, thunderstorms make -1800 C of charge the earth every second, which just counter-balances the steady inflow of +1800C of charge to flow from the thunderstorm free regions of the earth.

107. एक गणित का उदाहरण इस ओर स्पष्ट करता है, देखें Text book of Physics (Std. XII), part II, page 172—

Problem1: Average surface charge density of the earth's surface is 10^{-9} coulomb/meter². If there exists a potential difference of 400 volts between a certain layer of upper atmosphere above the earth's surface causing a current of 1800 amp (assumed constant) to flow from earth's surface to the atmosphere, how much time will it take earth's surface charge density to become zero?

(Radius of Earth = 6400 km)

Surface charge density $\sigma = 10^{-9}$ coulomb/meter²

Surface area of earth = $4\pi R^2$

$\therefore A = 51445.5 \times 10^{10}$ meter²

Total charge $Q = \sigma A = 10^{-9} \times 51445.5 \times 10^{10}$

$= 5.144 \times 10^5$ coulomb.

$Q = It \Rightarrow t = \frac{Q}{I}$

$= \frac{5.144 \times 10^5}{1800}$

$= 0.2857 \times 10^3$

$t = 285.7$ second

A Note: Thunderstorms continually going on at various places on the earth convey electrical charge to the surface of the earth maintaining on an average conditions described in this problem.”

108. डॉ. जे. जैन, अप्रकाशित लेख, पृष्ठ 8-10
109. गुजरात समाचार, (दैनिक) अहमदाबाद, अर्ध साप्ताहिक पूर्ति शतदल, में 4-9-2002 को डिस्कवरी कालम में प्रकाशित डॉ. विहारी छाया का लेख “आकाशनी बिजली पड़े तयारे शरीर ने केम हानि थाय” से उद्धृत।
110. डॉ. जैन, पूर्व उद्धृत सन्दर्भ, पृष्ठ 27.
111. वही, पृ. 12
112. वही, पृ. 37
113. वही, पृ. 25
114. वही, पृ. 31

ENGLISH SECTION

Ācārāṅga-Bhāṣyam

— Ācārya Mahāprajña

CHAPTER - II PONDERING OVER THE NATURE OF THE WORLD

तुलसी प्रज्ञा अक्टूबर — दिसम्बर, 2003

69

SECTION - 2

2.27 araiṃ āuṭṭe se mehāvī.

The intelligent refrains from ennui.

Bhāṣyam Sūtra 27

Delight and ennui are relative terms. The aspirant, who even accepting the marvellous act of renunciation, does not find delight in it is not intelligent. Therefore, the sūtra admonishes that one who can overcome the ennui for the marvellous renunciation is indeed intelligent.¹

2.28 khaṇaṃsi mukke.

2.29 aṇāṇāe puṭṭhā vi ege niyaṭṭamti.

(28,29) Within moment is he liberated (as a result of refraining from ennui). Some others not following the commandment return to householder's life.

Bhāṣyam Sūtra 28, 29

The result of overcoming the ennui is that the aspirant who finds delight in the marvellous renunciation is freed from all desires and bonds within a moment like King Bharata.

Commandment means the self-nature or the knowledge of the self, or the injunction of the adorable ones. The opposite of it is lack of self-nature.² People taking delight in it fall back, that is, become householders when they behave want only and are overcome by desires and the like.

2.30 maṃdā moheṇa pāuḍā

2.31'' apariggahā bhavissāmo'' samuṭṭhāe, laddhe kāmehiḡāhaṃti.

(30, 31) The dullards are overwhelmed by delusion. Some people having received initiation with the resolve renounce all possessions, indulge in sensual objects when confronted with them.

Bhāṣyaṃ Sūtras 30, 31

There are two reasons for reversion to householder's life: intellectual dullness and the veil of delusion. The dull and the person stupefied by delusion revert from the life of discipline, even after treading the marvellous path. Owing to the dullness of intellect, the downfall from spirituality is not comprehended.

This is responsible for a redoubled passion— attachment. Even in delusion, when the power of thought predominates, suppression of the delusion becomes easy.

The wake up for practising the marvellous discipline starts with the resolution: I shall divest myself of the possessions. But those who do not fulfil the vow of non-possession fall victim to the sway of sensual objects. They do not strive for crossing to the other shore. The sūtra stresses the co-existence of possessiveness and the sensual desire.

2.32 aṅṅāṇe muṇiṇo paḍilehaṃti

The monks not following the commandment look for the sensual objects.

Bhāṣyaṃ Sūtra 32

The monks who are outside the commandment do not delight in the self nor do they follow the injunction of the adorable. They divert their mind to sensual enjoyment.

2.33 ettha mohe puṇo-puṇo saṅṅā.

Such people are bogged down in delusion again and again.

Bhāṣyaṃ Sūtra 33

The delusion of sensual attachment is produced in those whose mind is addicted to sensual enjoyment, constantly recollecting the past pleasurable experiences. Infatuated by delusion they are engrossed and immersed in it."³

2.34 ṇo havvāe ṇo pārāe.

They are neither on this shore nor on the other.

Bhāṣyaṃ Sūtra 34

According to the Cūrni, 'this shore means householder's life and the other shore the life of self-restraint'.

Such people, deeply immersed in the mud of delusion, are neither householders nor monks. Like the elephant bogged down in mud, they cannot cross back to this shore nor forward to the other.

2.35 vimukkā hu te jaṅṅā. je jaṅṅā pāragāmiṇo.

Liberated indeed are those who have crossed to the other shore.

Bhāṣyaṃ Sūtra 35

Those who are disenchanted with sensual enjoyments are vigilant in all respects. They succeed in crossing to the other shore.

In accordance with the principle, 'what is being done is indeed done', those who are in the process of disenchantment are designated as disenchanted. The other shore means the discipline. Accordingly those who are practising the discipline are designated as those who have crossed over to the opposite shore.

2.36 lobhaṃ alobheṇa dugaṃchamāṇe, laddhe kāme nābhigāhai.

Those who have guarded themselves against greed by means of non-greed do not indulge in sensual objects when confronted with them.

Bhāṣyaṃ Sūtra 36

Previously (in sūtra 31), it was said that they fall victim to the sensual objects when confronted with them. Here the question is about the modus operandi of saying oneself from falling victim to the sensual desires. The sūtra asserts that the person who can resist greed by means of non-greed is capable of saying himself. Greed is an attribute or a state of psyche. Non-greed is also an attribute of the psyche. With the progress in the practice of the state of non-greed, the state of greed is gradually weakened and finally overcome.

2.37 viṇaittu lobhaṃ nikkhamma, esa akamme jāṇati-pāsati.

Having subdued his greed he gets initiated in spirituality and being freed from worldly action, knows and sees the truth.

Bhāṣyaṃ Sūtra 37

The renouncers of the world are not all equal. Among them some renounce the world after having uprooted the greed, just like Bharata, the paramount Lord. Being detached from all actions, that is, engrossed in meditation, or being freed from the knowledge and intuition covering karma, he directly knows and perceives the consequences of sensuality and possessiveness.

Alternative explanation — greed is the cause of drive or action. The person who renounces after having subdued the greed is freed from all worldly activities. He overcomes the wheel of actions and brings to stop the wheel of drives and actions and become the knower and perceiver of truth, and starts attenuating his worldly involvement as the doer of deeds.

2.38 padilahāe ṇāvakaṃkhati.

After proper investigation he does not desire for anything.

Bhāṣyaṃ Sūtra 38

Some people again renounces the world while entangled in worldly activities and desires. But on account of a special kind of elimination-cum- subsidence

of karma and a special sort of pondering over the consequences of sensuality and possessiveness, they stop hankering after them.

2.39 esa aṇagāretti pavuccati.

Such person is called a houseless monk.

Bhāṣyaṃ Sūtra 39

The genuine monk is he who conquers greed by non-greed and does not covet the sensual objects and possessions.

2.40 aho ya rāo ya paritappamāne kālākālasamuṭṭhāi, samojogattḥi atthālobhī, ālumpe sahasakkāre, viṇivittḥacitte, ettha satthe puṇo-puṇo.

Pining day and night, exerting timely and untimely, hankering for acquisitions, greedy for worldly things, addicted to theft and robbery with mind fixed on family and sensual gratification, he is virtually a weapon of violence to living beings, time and again.

Bhāṣyaṃ Sūtra 40

Previously in sūtra 3, the description concerned an aspirant endowed with fortitude. The present sūtra relates to the person devoid of fortitude. He cannot abandon greed, sensuality and possession. He is, therefore, subject to suffering and misery (vide sūtra 2 and 3).

2.41 se āya-bale, se nāi-bale, se mitta-bale, se pecca-bale, se deva-bale, se rāya-bale, se cora-bale, se atihī-bale, se kivaṇa-bale, se samaṇa-bale.

Such person hankers after various powers: power of the body, of the kith and kin, of friends, of life hereafter, of gods, of kings, of thieves, of guests, of pitiable persons and of ascetics.

Bhāṣyaṃ Sūtra 41

A person acquires a number of power for leading his life:

1. **Power of the body** - A person tainted by greed take wine and meat for nourishing his body and for amusement.
2. **Power of the kith and kin and friends** - Under the impression that if his relatives and friends become powerful, he would gain strength, he desires for augmenting their power.
3. **Power of life hereafter and power of gods** - He performs animal sacrifice for the next world such as heaven and for appeasing gods.
4. **Power of kings** - He serves the king for livelihood and victory.
5. **Power of thieves** - He serves the interest of thieves for sharing the spoils of theft.
6. **Power of guests, pitiable men, ascetics** - He gives donation to guests,⁴ the pitiable⁵ and the monks⁶ in order to gain fortune, fame and religious merit.

2.42 *icceteḥiṃ virūvarūvehiṃ kajjehiṃ daṃḍa-samāyāṇaṃ.*

He indulges in violence for perpetrating these various deeds.

Bhāṣyaṃ Sūtra 42

One indulges in acts of violence for the sake of the ends mentioned in the previous sūtra. Punishment, injury and killing are synonyms.

2.43 *sapehāe bhayā kajjati.*

2.44 *pāva-mokkhotti maṇṇamāne.*

2.45 *aduvā āsaṃsāe.*

(43-45) He indulges in such action in accord with his own thinking or out of fear; or pondering that such acts will redeem him from sins; or out of expectation of something not achieved till then.

Bhāṣyaṃ Sūtra 43-45

Punishment is inflicted for acquiring power. This explains the purpose of punishment. Now the four motives of the acquisition of power are enumerated:

1. Self-reflection
2. Fear
3. Redemption from sin or evil, and
4. Expectation (for the unachieved ends).

2.46 *taṃ pariṇṇāya mehāvī neva sayam eehiṃ kajjehiṃ daṃḍam samāraṃbhejjā, nevaṇṇam eehiṃ kajjehiṃ daṃḍam samāraṃbhāvejjā, nevaṇṇam eehiṃ kajjehiṃ daṃḍam samāraṃbhamtaṃ samaṇujāṇejjā.*

Comprehending this, the intelligent aspirant does not himself indulge in such violent activities, nor does he get them done by others, nor does he approve others indulging in them.

Bhāṣyaṃ Sūtra 46

The preceding three sūtras gave the motives behind violent action. This sūtra enjoins that the violent action should not be done by oneself, got done by other, or approved of as done by others. The above is said in reference to an intelligent person. Such advice is appropriate to a person whose intellect can evaluate the merit of ahimsā.

2.47 *esa magge āriehiṃ paveie.*

This path has been revealed by the āryas.

Bhāṣyaṃ Sūtra 47

This path of non-greed, non-possessiveness and the emancipation from mineness has been laid down by the Āryas. Ārya⁷ means Ācārya.

2.48 *jahettha kusale novaliṃpijjāsi. — tti bemi.*

In order that the prudent does not involve himself in possessiveness. Thus I say.

Bhāṣyaṃ Sūtra 48

This path has been laid down by *Jinas*, that is, propounded with the view that the prudent might not get involved in possessiveness.

[SECTION -3)

2.49 se asaṁ uccāgoe, asaṁ nīyāgoe. ṇo hiṇe, ṇo airitte, ṇo pīhae.

Frequently a soul is born with high, frequently with low status. So it is neither high nor low (intrinsically). One should not therefore covet status.

Bhāṣyaṁ Sūtra 49

The most visible goods of possession are accumulation of money and boarding of property. But minutely viewed, the desire for honour and respect too is nothing but a kind of possession. This Sūtra is concerned with contemplation on freedom from such possession. The worldly soul transmigrates from higher to lower pedigrees and vice-versa, time and again; therefore, truly speaking, he is neither low nor high. In other words, the distinction between high and low is only arbitrary. As such, the hankering for a high pedigree is futile.⁸

High pedigree - it refers to one whose pedigree is worthy of honour and respect. The opposite of this is low pedigree.

This Sūtra should be explained from the standpoint of substance. From the standpoint of substance or the ultimate standpoint the soul is neither low nor high. The high or low is understandable only from the standpoint of modes.

2.50 iti saṁkhāya ke goyāvādi? ke mānāvādi? kiṁsi vā ege gijjhe?

Knowing this truth about status, who would speak of his status, who would be proud of it and who would remain attached to a particular thing or object?

Bhāṣyaṁ Sūtra 50

Knowing that he himself as well as others have passed through high and low pedigrees, why should one uphold the doctrine of pedigree and position of pride? What should one covet for? The doctrine of pedigree relates to the caste, family, power, beauty, penance, learning, acquisition and fortune. The doctrine of pride originates from the imaginary view of one's personal qualifications and merits. One has already experienced all this in the past. Why should, therefore, one feel elated on getting to a high position or feel depressed when fallen down to a low status?

2.51 taṁhā paṁḍie ṇo harise ṇo kujjhe.

And therefore the intelligent person should neither be happy nor angry.

Bhāṣyaṁ Sūtra 51

Therefore, the wise man should be equanimous. He should not feel elated when accorded respect and honour due to his high pedigree. Nor should he feel depressed when subjected to insult due to his low pedigree.

2.52 *bhūehiṃ jāṇa padileha sātāṃ.*

See and ponder over the karma and its result in living beings, reflect on the elimination of karma.

Bhāṣyaṃ Sūtra 52

The experience of low pedigree is suffering. While pondering over the cause of suffering, one should first of all know about the soul and about the soul and then about how the karma is bound and produces its result.

Look at the wearing off⁸ of karma and the process of such wearing.

2.53 *samite eyāṇupassi.*

A person of right world-view reflects on karma and its results.

Bhāṣyaṃ Sūtra 53

The person who has comprehended the truth through investigation into the nature of the desirable and the undesirable is a person of right world-view, Such person can see the result of karma.

2.54 *taṃ jahā — aṃḍhattaṃ bahirattaṃ mūyattaṃ kāṇattaṃ kuṃṭattaṃ khujjattaṃ vaḍabhattaṃ sāmattaṃ sabalattaṃ.*

Such as blindness, deafness and dumbness, one-eyedness, lameness, dwarfness, hunch-backedness, leprosy and white leprosy.

Bhāṣyaṃ Sūtra 54

Blindness, etc. are the illustration of the result of karma.

There are two meanings of the word *khujja* : Hunchback ???⁹ and dwarf.¹⁰ The meaning of the word *vaḍabha* is also hunch-back.¹¹ In the context of the configuration of the body, this is corroborated.¹² The meaning of *sāmatta* is leprosy¹³ and *sabalatta* is white leprosy.¹⁴

2.55 *sahapamāṇam aṇegarūvāo joṇīo saṃdahāti, virūvarūve phāse paḍisaṃvedei.*

On account of his non-vigilance he undergoes various births and miseries.

The investigator of the results of karma reflects on the truth of rebirth in different species on account of one's Own non-vigilance and suffers in multifarious ways.

Bhāṣyaṃ Sūtra 55

One who investigates the fruition of karma perceives the truth that is expressed in the present, Sūtra.

2.56 *se abujjhamāṇe hatovahate jāi-maraṇaṃ anupariyaṭṭamāṇe.*

Ignorant about karma and its results, injured and insulted, he passes through cycles of birth and death.

Bhāṣyam Sūtra 56

Not knowing about pride arising from possessions, and violence due to such pride, as well as the karmic results born of such pride and violence, a person exposes himself to insults and injuries on account of failures and ailments in life. Such person accumulates karma and subjects himself to cycle of birth and death.

2.57 jīviyaṃ puḍho piyaṃ ihamegesiṃ māṇavāṇaṃ khettavatthu mamāyamāṇāṇaṃ.

The some people, a highly prosperous life is dear, owing to their clinging to land and property.

Bhāṣyam Sūtra 57

The desires are manifold. Some people desire only for fortune and power. An ostentatious and prosperous life alone is dear to them. They have strong clinging to land and property.

2.58 ārataṃ virattaṃ maṇikuṃḍalaṃ saha hiraṇṇeṇa, ithiyāo parigijjha tattheva rattā.

They gather clothes of different colours, precious gems, ear-rings, precious metals like gold and silver and women, and cling to them.

Bhāṣyam Sūtra 58

Such people have lust for clothes dyed with *kusumbha* flowers¹⁵ and various other colours, and also precious stones, ear-rings, precious metals like gold and silver, and women.

People accumulate clothes for protection of the body, precious gems and ornaments for adorning the body; they amass precious metals and wealth for maintenance of life, and women for enlarging family; when utility is replaced by clinging, the knot of *āmineâ*-ness becomes invincible. The Sūtra has disclosed this truth.

2.59 ṇa ettha tavo vā, damo vā, ṇiyamo vā dissati.

Neither penance, nor self-control, nor self-discipline is found in such persons.

Bhāṣyam Sūtra 59

It is not possible to find penance, restraint, or discipline in persons who have possessions or lust for possessions. On account of their possessions, they always suffer from anger and anguish. The agonised mind can hardly think of penance and restraint.

‘Penance’ means conquering taste and successfully practicing the postures, etc.

Self-control means conquering the senses and restraining the passions.

Self-discipline means abstaining from the objects of enjoyment (consumable and usable) for a limited period.¹⁶

2.60 sampunnam bāle jīviukāme lālappamāṇe mūdhe vippariyāsuvei.

The ignorant person who desires to live an unhindered prosperous life, and bankers after pleasures meets the reverse (i.e. suffering) in life under the sway of delusion.

Bhāṣyam Sūtra 60

An ignorant person with the ambition of living a trouble-free and prosperous life bankers after pleasures, time and again. But on account Of his excessive lust for possessions, he is thwarted in his ambition. He desires pleasures but gets suffering.¹⁷

2.61 iṇameva ṇāvakaṃkhaṃti, je jaṇā dhuvacāriṇo.

jāti-maraṇam pariṇṇāya, care saṃkamaṇe daḍhe.

People exerting for the state of eternal liberation do not like such reversal. Therefore, comprehending the cycle of birth and death, one should tread on the firm causeway of non-possession.

Bhāṣyam Sūtra 61

The aspirants who realize the evil consequences of clinging to possessions are inclined toward liberation, that is they are heading towards the eternal state of liberation. They do not hanker after the life that is fleeting though prosperous, and is full of perversions and prejudices. The singular result of the possessive clinging is birth and death and transmigration through many species of life and experience of the status of blindness and the like. Comprehending this, a person free from delusion should travel on a steady path, that is, the causeway leading to emancipation. The implication is that he should tread the path of non-possession.

2.62 ṇatthi kālassa ṇāgamo

There is no moment inaccessible to death.

Bhāṣyam Sūtra 62

The reason for abandoning the fleeting and moving towards the eternal is indicated here. A person usually bankers after a prosperous life. But how long does such prosperity continue? There is no moment inaccessible to death. There is no moment when death cannot visit a being. There is every chance of death at any moment, in day or night, childhood, youth or old age. Advance towards the eternal, therefore, is the desideratum. The person thus advancing is always vigilant and vice-versa.

2.63 savve paṇā piyāuyā suhasāyā dukkhapaḍikūlā appiyavahā piyajīviṇo jīviukāmā.

2.64 *savvesiṃ jīviyaṃ piyaṃ.*

2.65 *taṃ parigijjha dupayaṃ cauppayaṃ abhijumjjiyāṇaṃ saṃsimciyāṇaṃ tivieṇaṃ jā vi se tattha mattā bhavai — appā vā bahugā vā.*

(63-65) All beings love long life, relish happiness, hate suffering, dislike torture, love to live, desire for life. To everyone life is dear. However, the person addicted to possession owns the biped, the quadruped and engages them in service by force to multiply his wealth. By triple effort, he amasses wealth in small or big quantity.

Bhāṣyaṃ Sūtra 63-65

Violence is committed for possession's sake. Humans and animals are also subjugated. In the three Sūtras, the accumulation of possession is shown to be done by means of violence. Life is dear to everybody, pleasurable feelings are favourable to all. Suffering is repugnant, torture is distasteful, a life rich in enjoyments is dear to all. They desire to live free from premature and untimely death.¹⁸

Everybody wants to live an independent life. Nobody likes domination by others. But, nevertheless, a person, attached to possessions, takes hold of the life of the biped and quadruped and accumulate fortune, engaging them forcibly in his service.

Such person succeeds in acquiring wealth and property, small large, in triple way: by the effort of himself, of others or of both, or by the exertion of mind, speech and body. As a result he becomes a millionaire or even multimillionaire.

2.66. *se tattha gadhie ciṭṭhai bhoyaṇāe.*

2.67. *tao se egayā viparisitṭhaṃ sambhūyaṃ mahovagaraṇaṃ bhavai.*

2.68. *taṃ pi se egayā dāyāyā vibhayaṃti, adattahāro vā se avaharati, rāyāṇo vā se vilumpanti, ṇassati vā se, viṇassati vā se, agāradhāhiṇa vā se ḍajjāi.*

(66-68) He gets ensured in fortune for its enjoyment. Then at one time, his manifold savings grow into a large fortune; at another time his fortune is divided by relatives among themselves, or stolen by the thief, or confiscated by the king, or is lost, or destroyed or burnt in housefire.

Bhāṣyaṃ Sūtra 66-68

Such person is overwhelmed with lust for the accumulated wealth. He needs wealth for enjoyment, and so develops delusive attachment to it.

Now he strives for preserving his wealth and sometimes his savings become huge and grow to a big quantity. He lives in luxury, heaps of wealth.

The accumulated wealth generates ambition in many people. This is an objective truth. Such wealth has three phases: acquisition, enjoyment and

destruction. Here the third phase is shown as an inevitable consequence. Sometimes the relatives divide his big savings among themselves; sometimes it is stolen by the thieves, or confiscated by the king (or the state), or lost, or destroyed,¹⁹ or reduced to ashes when the house is on fire.

2.69 iti se parassa aṭṭhāe kūrāim kammāim bāle pakuvvamāṇe teṇa dukkheṇa mūḍhe vippariyāsuvei.

In this way, the ignorant person engaged in cruel acts for the sake of others is bewildered by his suffering and has a setback (i.e. loss of fortune).

Bhāṣyaṃ Sūtra 69

The ignorant person commits cruel deeds for earning money mainly for the members of his family. On account of the cruel and heinous deeds, he incurs suffering and is deluded²⁰ by it. Consequently, he falls into misfortune. In other words, while hankering after pleasures, he meets suffering.²¹

2.70. muṇiṇā hu eyaṃ paveiyam.

This has been proclaimed by the Jina.

Bhāṣyaṃ Sūtra 70

This truth has been revealed by Lord Mahāvira, the omniscient ascetic.

2.71 aṇohaṃtarā ete, no ya ohaṃ tarittae, atīraṃgamā ete, no ya tīraṃ gamittae. apāraṃgamā ete, no ya pāraṃ gamittae..

They do not cross the flood of suffering, nor are they able to. They do not cross on to other shore, nor are they able to. They do not go to the opposite bank nor are they able to.

Bhāṣyaṃ Sūtra 71

The cruel people attached to their possessions are unfit to cross the stream of suffering, that is, they are incapable of overcoming the flood of suffering in the ocean of Saṃsāra. They cannot cross to over the other side of that tide to reach the other bank. Such people cannot reach the end of the ocean of suffering.

There is internal relationship between possession and cruelty. With the increase of possessions there is decrease of the tenderness of heart and increase in cruelty. The history of mankind stands witness to this. Tenderness of heart is the way to freedom from suffering. Cruelty creates problem in social relations and hinders one from crossing the ocean of suffering.

2.72 āyāñijjam ca āyāya, tammi tṭhāṇe ṇa ciṭṭhai.

vitahaṃ pappā kheyañṇe, tammi thāṇammi ciṭṭhai..

Accepting the acceptable (non-possessiveness) the ignorant person does not stick to it. Having access to the untrue (i.e. possessiveness), he sticks to it.

Bhāṣyaṃ Sūtra 72

Here 'acceptable' stands for non-possessiveness. A person ignorant of himself accepts non-possessiveness, but does not stick to it. On his access to the untrue (i.e. possessiveness), he remains addicted to it.

A person ignorant of himself is not capable of avoiding his clinging to possessions of worldly objects. Sometimes, somehow he even accepts the acceptable, but in the absence of the power of discrimination between soul and matter, he does not adhere to it which is possible only on the acquisition of the power of discrimination.

2.73 uddeso pāsaggassa natthi.

There is no designation for the seer.

Bhāṣyaṃ Sūtra 73

The person who sees the objective truth is a seer. There is no designation for him. Designation means the description, for example, the naming of a person as happy, miserable, angry, proud, deceitful, greedy, rich, poor etc. The seer transcends such designations and always experiences his self-nature and avoids conceptual vagaries.²²

2.74 bāle puṇa ñihe kāmasamaṇuṇṇe asamiyaḍukkhe dukkhi dukkhānameva āvaṭṭaṃ aṇupariyaṭṭai — tti bemi.

An ignorant person is but full of affection. He desire for pleasurable things. He suffering is not mitigated. Being miserable, he rotates in the whirl of suffering — Thus do I say.

Bhāṣyaṃ Sūtra 74

A person who is ignorant and not a seer is filled with affection and desires for sensual objects. He is not able to calm down his suffering arising from sensual objects and possessions. With unmitigated suffering, he lives in miserable condition. Because of his physical and mental suffering, he revolves in the whirl of miseries.

The ignorant person is designated as happy, miserable, angry etc.²³

Reference:

1. Feeling of happiness in practicing self-discipline and detachment from sensual pleasures result in development of the self and bliss. The feeling of being sick in asceticism and hankering after sensuality result in degradation of the Self as well as loss of bliss. Hence, a *sādhaka* is advised to avert his mind from such feeling of sickness.
2. (a) Ācārāṅga Cūrṇi, p. 58: aṇānā jahā abhilasitā ahitapabittī.
(b) Ācārāṅga Vrtti, Patra 102 : aṇñā — hitāhitapṛāptiparihārārūpatayā sarvajñopadeśaḥ, tad viparyayaḥ aṇāññā.
(c) Apte, aṇñā — to know, understand, perceive etc.

3. Cf. Gīta, 2.62— dhyāyato viṣayāṅ puṃsah saṅgasteṣūpajāyate.
4. Ācārāṅga Vṛtti, Patra 104:
tithiparvotsavāḥ sarve, tyaktā yena mahātmanā,
atithiṃ taṃ vijāniyāccheṣamabhy āgataṃ viduḥ.
5. Ācārāṅga Cūrṇi, p. 61 : kiviṇā vigalasaṅrā.
6. Ibid, p. 61, samaṇā caragāti.
7. Prastutāgamasya racanākāle āryaśabdaḥ utkarṣaṃ prāptaḥ, anāryaśabdaśca apakaraṣaṃ gataḥ.
8. Both the words śātaṃ and sātaṃ mean wearing off. Apte : śataḥ — destroyed, śaṭaḥ — cut down.
9. Ācārāṅga Cūrṇi, p. 65.
10. Ācārāṅga Vṛtti, Patra 108.
11. Abhidānacinatāmani, 3.130;6.65.
12. Sthānāṅga, Vṛtti, patra 339
13. Ācārāṅga Cūrṇi, p. 65 : sāmo—kuṭṭhi
14. (a) Ācārāṅga Cūrṇi, p. 65 : śabalatvaṃ — siti.
(b) Ācārāṅga Vṛtti, Patra 108 : śabalatvaṃ śivatralakṣaṇam.
15. Apte : raktakaṃ — A red garment.
16. Ratnakaraṇḍaśrāvakaścāra, 89
adya divā rajanī vā, pakṣo māsaṣtatharturayanam vā,
itikālaparicchityā, pratyākhyānam bhavennyamaḥ.
17. See Āyāro, 2.151.
18. The truth the Happiness is loved and sufferings loathed has been discussed here in the context of acquisitiveness. One who amasses wealth endeavours to get rid of his miseries and acquire happiness. While doing so, he does not care if he ruins the happiness of others. He forgets the fact that just as he like happiness and loathes sufferings, others also do so. In the field of commerce and trade, dishonesty and exploitation practised in society are nothing but the results of losing sight of the above fact. Bhagvān Mahāvīra has repeatedly stressed this point and admonished that conduct should be based on the precept of self-equality.
19. Ācārāṅga Cūrṇi, p. 69. : naṣati cauppayādi sayameva, viṇassati jaṃ viṇā paribhogēṇa kāleṇa vinassai ahavā ṇāvāe bhīṇṇāe savvaṃ viṇassai.
20. Ācārāṅga Vṛtti, Patra 112.
rāgaḍveṣābhībhūtavāt, kāryākāryaparānmukhaḥ, eṣa mūḍha iti jñeyo,
viparītaavidhāyakaḥ.
21. Just as the fruit of the mango is called mango, the seed of the mango is also called mango. Similarly, just as adverse circumstances are also called sufferings. Those philosophers who see no chain relationship between cause and effect can never eradicate the root cause of unhappiness. Consequently, it perpetually recurs resulting in stupification.
22. See, Āyāro, 2.185.
23. See, Āyāro, 2.186

Suprabhātam: A Didactic work of Ācārya Mahāprajña

— Lopamudra Bhattacharyya

Ācārya Mahāprajña is an eminent philosopher in modern times. In post independence period Acarya Mahaprajna's thinking enriched the Sanskrit literature in both the ways, quantitative and qualitative. His style of expression is simple but subject matter never leaves the spontaneous elasticity of logical manner. He is the Acarya of the Terapanth Jain sect of Svetambara Jain community. His perfect life style is worthy to his perfect thinking. Here one of his books named as *Suprabhātam* is being reviewed as a post independence composition in the field of Sanskrit literature. In the introduction about the book some vital points are being discussed. The name *Suprabhātam* simply means - 'good morning'. Morning has a special significance in human life. The phrase '*morning shows the day*' can justify the value of morning for a day. Morning is the beginning of a day, not a day means a day only, but the beginning of the duties to the world around of a human being, rather it is to be said, a prerogative achievement of birth. Every beginning has an end and is related with the result directly. So a good beginning is the most important condition for the best result at the end. Here the name *Suprabhātam* is not only a language generally used for exchanging of greetings within the sphere of social life but has a philosophical value to which Mahāprajña points blank.

Right conduct is the essential quality for a human being. The idealism is constructed upon the basis of two main theme- a) philosophy of idealism, b) to follow the philosophy in practical life in a professional manner. In modern times it is easily seen that

a social being has his own philosophy but the lacking lies in effortlessness reflecting his philosophy in practical life. Jain philosophy strongly believes in right conduct and therefore it is very natural for someone who attains right conduct he must know the evil and good sides of conduct with the knowledge of philosophy of idealistic nature. In contemporary social perspective the book *Suprabhātam* introduces the easiest methods of rectifying one's conduct and thus it meets the need of personality development too.

Though the book is subjected to the common people and most of them are hardly familiar with the name of Sanskrit only, but Mahāprajñā's inner effort to turn the face of people to their original culture by composing the book in Sanskrit language, which draws our attention to his social responsibilities and duties. Free style of sentences and its narrative character easily attract the interest of common people. His remodeled philosophy and new style of thinking is the matter of great interest of scholars in it. Already some of the points have been discussed in introductory portion; here in the main part many other different matters are being discussed. Among them the most important point is the theory of bondage of *karma*. It is due to the fact that entire Jain philosophy is centered into *karmic* theory. Without *karma* no worldly activity can persist. So the whole matter of this book also is based on *karma* theory. After going through the whole book and a deep study, it can be concluded that every deliberation has a hidden form to the cause of bondage of *karma*. Generally five causes are considered for the effectiveness of *karma*, they are as 1. *mithyātva* 2. *avirati* 3. *pramāda* 4. *kaṣāya* and 5. *yoga*, again they have their subdivisions. *mithyātva* means improper knowledge, *kaṣāya* is known as enemy (*ripu*), and the meaning of *yoga* is initiation to the activity. *mithyātva* has five classes- 1. *ekānta mithyāttva* 2. *vinaya mithyātva* 3. *viparita mithyātva* 4. *saṃsaya mithyātva* 5. *ajñāna mithyātva*. And likewise *kaṣāya* has four classes- 1. *krodha* (aversion) 2. *māna* (pride) 3. *māyā* (deceit) 4. *lobha* (greed). *Yoga* has three classes- 1. *mana yoga* 2. *vacana yoga* 3. *kāya yoga*. (See chart in pages 86-89)

Right conduct is the base of Jain Philosophy. As worldly affliction has been the ever- lying problem in human life, it has been the most important part of arduous practices and philosophies that prescribe the path to overcome through. In this context bondage of *karma* has a profound

role. Jain Philosophy prescribes the path of performing right conduct to be independent from affliction by conquering over the bondage of *karma*. Thus, to perform right conduct, apprehension of the nature of bondage is the only condition that leads to the goal of attaining total freedom. That is why four successive stages of attaining right conduct are stated in Jain Philosophy, these are, 1. knowing about bondage, 2. knowing the source of bondage, 3. knowing the state of final liberation and 4. knowing the path (of final liberation). The deliberations in this book are in no way exception to the prescriptions of the canonical texts. Though the teachings and code of conducts stated in the canons are mainly prescribed for the monks but the lay people live in a social circumstances, follow these rather in lighter manner. Otherwise the teachings will not be conducive with their life style and hardship of teachings will become a great burden for the people, and resultantly they leave them instantly rather to follow them, because people generally find social value and logical proof before endorsing their favour in it, which be performed in an easier manner.

Every dictum of *Suprabhātam* bears dual meaning— on one hand it shows every pros and cons and what, why, and how about an evil thing and on the other - to exclude them from their lives. In this order some small vows are suggested in this book, which are the lighter state of great vows, specially obtained by monks.

All the teachings of this book follow the rules of twelve *anuvratas* including three *guṇavratas* and four *śikṣāvratas* along with five fold main vows. Knowledge without proper action cannot meet the need for betterment, so right conduct with knowledge brings together great vows and small vows accordingly.

Suprabhātam is not only the means to compensate social damages but it is meant for spiritual teaching. Mahāprajña treats it by the examples of herbs in some of his deliberations. These are all related to Āyurveda. His special mention on the three humors of the human body are — *vāta*, *pitta* and *kapha*. Without achieving command on the self, a bit of any kind of development cannot be possible, so to gain the command on the humors — is the only way there. These humors are the controller of our all types of actions whether it is a social dealing or it is a personal business. So Ācārya Mahāprajña only indicates about the humors by the way of examples of

Chart

| Sl. | 1 | 2 | 3 | 4 | 5 | 6 |
|-----|--|----------------------------------|---|------------------------------------|---------------------------------|-------------------------------------|
| 1. | ajñān | vinaya | ekānta | viparīta | sāmsaya | krodha |
| 2. | avivekaḥ paramam kaṣṭam Jan. | satyāsatyō vivekaḥ 16 Jan. | aśiṣṭo vyavahāraḥ 2 Feb. | antadr̥ṣṭih 1 Feb. | antar virodhaḥ 24 Feb. | mastiṣkam rakṣanīyam 12 April |
| 3. | viveka eva sāphalyam 4 Jan. | — | anāgrahī labhate satyam 7 Feb. | viparyayah 8 April | asamyak prayogaḥ 30 April | — |
| 4. | lakṣyam spaṣṭam kuru 22 Feb. | — | — | vicitroyam vyamohaḥ 30 April | — | — |
| 5. | durbalatāyāḥ paridhānam 22 March | — | — | — | — | — |
| 6. | niyamanab- hijñatā 30 March | — | — | — | — | — |
| 7. | śabdāranyam mahājālam 31 March | — | — | — | — | — |
| 8. | kasya doṣaḥ 1 April | — | — | — | — | — |
| 9. | ajñānasya naika panthāḥ 13 April | — | — | — | — | — |
| 10. | ajñānam khalu kaṣṭam 21 April | — | — | — | — | — |
| 11. | mūlam siñca 25 April | — | — | — | — | — |
| 12. | — | — | — | — | — | — |
| 13. | — | — | — | — | — | — |
| 14. | — | — | — | — | — | — |

| 7 | 8 | 9 | 10 | 11 | 12 |
|--|--------------------------------------|--------------------------------------|---|---|---|
| māna | māyā | lobha | nīti | pramāda | social affairs |
| jnānalava durvidag- dhatā 11 Jan. | koyam svabhāvaḥ 2 Jan. | āsaktiḥ 13 Feb. | āsthāyāḥ ādhāraḥ 3 Jan. | mūrchāyāḥ māhātmyam 17 Jan. | śabdānveṣaṇam 31 Jan. |
| kiyānaha- mkāraḥ 12 Jan. | keyam māyā 5 Jan. | ati maha- tvākāmk ṣā 23 Feb. | yādrśayaḥ tādrśaḥ 26 Jan. | kriyāsūnyam jñānam 18 Jan. | antadr̥ṣṭiḥ 1 Feb. |
| aśiṣṭo vyavahāraḥ 2 Feb. | śada grahitā 14 Jan. | artha lubdho janaḥ 13 March | ātmaikyam 29 Jan. | kathamun- mattas ya tīrāvāptiḥ 23 Jan. | cintanīyaḥ praśnaḥ 4 Feb. |
| mithyābh- imānam 5 Feb. | iṣṭāpattiḥ 24 Jan. | kim dha- nam 6 April | yādr̥śaḥ āhāraḥ tādr̥- śaḥ vyavah- āraḥ 3 Feb. | dhanameva sarvasvam 28 Jan. | apamānam laghutā hetuḥ 18 Feb. |
| andhaḥ ahaṃkāraḥ 12 Feb. | aśiṣṭo vyavahāraḥ 2 Feb. | lobhasya māhātmy- yam 9 April | avasaro balavān 9 Feb. | saṃśayātmā vinaśyati 6 Feb. | ko bhedaḥ go gopalakāśya 17 Feb. |
| — | aho mohasya māhātmyam 17 March | — | bandha mokṣayoḥ rekhā 10 Feb. | andhaḥ ahaṃkāraḥ 12 Feb. | samayajñyaḥ 19 Feb. |
| — | pratibimbasya mūlyam 24 March | — | kupamaṇ- ḍukaḥ 11 Feb. | kālpanikad- uḥkham 18 Feb. | vākcātūryam 20 Feb. |
| — | unmatta ceṣṭitam 3 April | — | andhaḥ ahaṃkāraḥ 12 Feb. | atimahatvā kāmkṣā 23 Feb. | lakṣyam spaṣṭam kuru 22 Feb. |
| — | mohasya vilāsaḥ 5 April | — | gantavyam ko jānati 14 Jan. | tarka sya simā 5 Mar | pitṛa tulyaḥ putraḥ 18 March |
| — | aho jādyam 18 April | — | svasya pra- tyabhijñā 15 Feb. | vismṛtiḥ smṛtipatrasya 11 March | vyaktivādasya- layaḥ 29 March |
| — | svapnaḥ 23 April | — | ānuvāṃ- sikatā 16 Feb. | upayogaḥ siddherdvā- ram 16 March | mastiṣkam rakṣaṇīyam 12 April |
| — | dhanon- mādaḥ 27 April | — | asīmnah mūlyam 21 Feb. | atibuddheḥ pariṇāmaḥ 20 Mar. | kīdr̥śo vyamgaḥ 15 April |
| — | — | — | antarviro- dha 24 Feb. | ālasyam par- amam śatruḥ 21 March | keyam durbalatā 19 April |

| Sl. | 1 | 2 | 3 | 4 | 5 | 6 |
|-----|---|---|---|---|---|---|
| 15. | — | — | — | — | — | — |
| 16. | — | — | — | — | — | — |
| 17. | — | — | — | — | — | — |
| 18. | — | — | — | — | — | — |
| 19. | — | — | — | — | — | — |
| 20. | — | — | — | — | — | — |
| 21. | — | — | — | — | — | — |
| 22. | — | — | — | — | — | — |
| 23. | — | — | — | — | — | — |
| 24. | — | — | — | — | — | — |
| 25. | — | — | — | — | — | — |
| 26. | — | — | — | — | — | — |
| 27. | — | — | — | — | — | — |
| 28. | — | — | — | — | — | — |
| 29. | — | — | — | — | — | — |

| 7 | 8 | 9 | 10 | 11 | 12 |
|---|---|---|---|-----------------------------------|--------------------------|
| — | — | — | saṃkalpa śaktih 25 Feb. | viparyayaḥ 8 April | koyam roṣaḥ 28 April |
| — | — | — | samagrataḥ sāpekṣaḥ samyak nirṇayaḥ 6 March | sudurlabham maunam 17 April | svārthījanaḥ 29 April |
| — | — | — | bāla līlā 8 March | pramādaḥ 22 April | pravancanam 1 May |
| — | — | — | kim duṣkaram 9 March | dhanon- mādaḥ 27 April | — |
| — | — | — | ko bhedaḥ 12 March | — | — |
| — | — | — | asatya- maparādha bījam 25 March | — | — |
| — | — | — | paradarśanam— dunkhāvaham 2 April | — | — |
| — | — | — | vicitram sāhacaryam 4 April | — | — |
| — | — | — | aṅveśanasya mūlyam 7 April | — | — |
| — | — | — | dūradarśitvam— 10 April | — | — |
| — | — | — | ātmadīpa bhava 14 April | — | — |
| — | — | — | vicitravir- odhābhāsaḥ 16 April | — | — |
| — | — | — | mūlyam pasya 24 April | — | — |
| — | — | — | katham bhauma prāptih 26 April | — | — |
| — | — | — | svārthī janaḥ 29 April | — | — |

nima, *āmalaka* and many other herbs for the purpose of common people. The actual purpose was to teach general people how to have the control over their behaviour, which is further controlled by three humors *vāta*, *pitta*, *kapha*. A chart on this matter is given below.

| | | | | |
|--------------|-------|-----------------------|--|------------------------------|
| <i>vāta</i> | life | air (<i>prāṇa</i>) | <i>prāṇa</i> has the ability to moveout thoughts and perceptions | being (<i>sat</i>) |
| <i>pitta</i> | light | fire (<i>tejas</i>) | <i>tejas</i> has the power to digest ideas or imotions | concioussness (<i>cit</i>) |
| <i>kapha</i> | love | water (<i>ojas</i>) | <i>ojas</i> means underlying strength works as the underlying fluid energy reserve for the entire psy-cophysical being, our underlying capacity for patience and mental endurance. | bliss (<i>ānanda</i>) |

As far as the clarification about the qualities of these herbs and other Ayurvedic ingredients are concerned, they are the examples for ideal behaviour and action which are to be rectified if there is any wrong in one's part.

Meditation is an integral part of spirituality, as spirituality is the basic need of every human being; meditation has a prime value to the life of human being. In the last phase of the 2nd volume of *Suprabhātam*-the context of meditation has taken place. Meditation of aural colours is described here. Each colour has its own identity in terms of its representation for zodiac signs. These colours have a very close relation with the three *tattvas* (elements) those are — air, fire, and water, which are again the signs of three humors of human body — *vāta*, *pitta*, *kapha*. Āyurveda, Tantra, and Yoga scriptures teach that — imbalance in three humors causes diseases and also responsible for imbalance in rational behaviour, actions of a human being. Thus these particular types of meditation can help us to control the humors and to normalize our internal and external actions accordingly.

In this order he also prescribes some *Tantric* practices in some particular centers like, *ānanda kendra*, *jyoti kendra* etc. The practice of *japa* on these centers is a joint action of Tantric and Yogic practices. The beginning of a day starts from dawn and then morning, and this time is

suggested as best for practicing Yoga. Above said practices can afford bliss (from *ānada kendra*), consciousness/knowledge (from *jyoti kendra*), peace (from *śānti kendra*) and so on. Thus Ācārya Mahāprajña included them in *Suprabhātam*, in his teachings for every morning. These all are meant for personality development, and so the part of value education for a society. So the outcome of the study of the book *Suprbhatam* is: —

Ācārya Mahāprajña introduced a new dimension of solemn resolve within the concept of *ṣaḍvāśyaka*. Lord Mahavira in his time prescribed some rules more prominently than his predecessors, and placed them within the great vows— those are *rātribhojana viramana* and *brahmacarya*. *Suprabhātam* and its qualities strongly propose its worth to be included in the series of *ṣaḍvāśyaka* for the laities.

Code of conduct has a special significance in austerity while discipline has an important role in a civilized society. *Suprabhātam* contains all the values of Jainism. Though core philosophical objects and tenets are not easily digestible, but this book has accomplished its responsibility with more efficacy and effectiveness. *Suprabhātam* recollects the data of canonical texts like *Nāyādhammakahā*, *Uvāsagadasā*, *Dasaveyāliya*, *Uttarajjhayana* in a sense, it is worthy to be categorised within the section of canonical texts. Even then its style is as just the fragments of narratives. *Suprabhātam* is the first composition in its own category where the toughest subject matters are formed in a short agreeable manner for easy gripping. Thus it is a unique effort to materialise the philosophical concept within the human being.

The speciality about the book *Suprabhātam* is, it is identical with the narrative ethical literature like *Pañcatantra* and *Hitopadeśa* in nature, but its horizon is wider than them. *Pañcatantra* and *Hitopadeśa* are aimed to deal with child psychology particularly, while *Suprabhātam* is composed with the greater objective to meet the need of society and the interest of all ages.

Anuvratas, the little vows are established as the code of conduct for house-holders specially. *Suprabhātam* has given a new dimension with a precise list of dos and don'ts to it that the little vows can be observed very smoothly in practical life.

One of the very famous slogans of Gaṇādhipati Tulsī is '*sudhre vyakti samāj vyakti se, rāṣṭra svayam sudhregā*, (The way of over all rise of a nation is only possible by the social consciousness, which comes through

the way of personality development of each person). Being the successor of H.H.Tulsī, Ācārya Mahāprajña delineates to establish the will of H.H.Tulsī in true sense. In this way Acarya Mahaprajna has been able to expand the limit of 12 fold vows by making its limit the sky. *Suprabhātām* is a unique gift to every kind of human being from Ācārya Mahāprajña where he listed all the compulsories with great care for every single day the life of a human being contains.

Change is an eternal phenomenon and acceptance of modifications is the only way to survive within the unknown circumstances in a better way. The effect of changes in time can be watched from the changed mode of social circumstances. As a result a movement of social recovery from the grass root level becomes necessary. At that moment renovation stands the only way to preserve the cultural, social and personal values in their intact condition. From the composition of *Suprabhātām* it is very clear that Ācārya Mahāprajña realized the truth very easily and thus he composed the authentic book in the name of *Suprabhātām*.

In his book more often the story of god contextually has been discussed. Jainism neither accepts the authority of god nor considers the concept of the super-spirit a way these are as depicted in Hinduism. Even then Ācārya Mahāprajña mentions the examples related with god and super-being is the sign of his broadness in views, which again works like a bridge within the different culture and plays an important role for integrity in various religious faiths.

To give the modern outlook Ācārya Mahāprajña has given an account of social relations that we can cure the injury with care by knowing the right place where the lacking lies. Some of the current problems are being mentioned here, against which Ācārya Mahāprajña moves for vigilance. They are – *keyam durbalatā*-19Apr. *svārthī janaḥ*-29apr. *pravancanam*-1May. etc. Thus Ācārya Mahāprajña collects the gems- and strings the bids into and presents the valuable gift to every human being.

Lopamudra Bhattacharyya
Jain Vishva Bharati Institute
Ladnun - 341 306
Rajasthan

Dietary Management of Peptic Ulcer

— Dr J.P.N. Mishra

Peptic ulcer is a break or crate-like lesion in the gastric or duodenal mucosa that arises when the normal defensive factors are impaired or are overwhelmed by aggressive luminal factors such as acid or pepsin. By definition, ulcers extend through the muscularis mucosae and are usually over 5 mm in diameter. Ulcers occur five times more commonly in the duodenum, where 95% are in the bulb or pyloric channel. In the stomach, benign ulcers are located most commonly in the antrum (60%) and at the junction of the antrum and body on the lesser curvature (25%). Ulcers occur slightly more commonly in men than in women in the ratio of 1.3:1. Although ulcers can occur in any age group, duodenal ulcers most commonly occur between the age of 30 and 55, whereas gastric ulcers are more common between the ages of 55 and 70. Ulcers are more common in smokers and in patients receiving Non-steroidal Anti-inflammatory Drugs (NSAIDs) on a chronic basis. Alcohol and dietary factors also appear to cause ulcer disease. The role of stress is somehow mysterious. The incidence of duodenal ulcer disease has been declining dramatically for last 30 years, but the incidence of gastric ulcer appears to be increasing, perhaps as a result of the widespread use of NSAIDs.¹

Etiology

The disease was once thought to be due to over secretion of acid by the stomach, but the cause is now known to be more complex. Everyone secretes acid which is an essential component of gastric juice and required for proper digestion. But only 10% people develop

peptic ulcer disease. It is believed that peptic ulcers result from disturbed balance between production of acid and thick mucus that protects the intestinal lining.

There are several adverse influences on this balance as follows²:

- Severe injuries or emotional stress can increase acid secretion and cause superficial erosion of the stomach lining.
- Abnormal contractions of muscles in wall of the gut may push acid or bile into parts of the gut where they should not be, to damage and ulcerate the lining membrane.
- The *Helicobacter pylori* (*H. Pylori*) is a spiral gram negative rod that resides beneath the gastric mucus layer adjacent to epithelial cells. It causes chronic mucosal inflammation with lymphocytes, making stomach and duodenal linings more susceptible to ulceration. It was previously thought that there was an inherited tendency to this disease, but now it seems more likely that *H. pylori* infection that family members share.⁽³⁻⁸⁾ Although the pathogenic mechanisms of ulcer formation by *H. pylori* are unclear, its importance in ulcer formation is undeniable.
- There are 10-20% prevalence of gastric ulcers and a 2-5% prevalence of duodenal ulcers in chronic NSAIDs users. The relative risk of gastric ulcer is increased 40-fold, but the risk of duodenal ulcer is only slightly increased. Aspirin is the most ulcerogenic NSAID. The risk appears to be dose related, with some risk even at doses as low as 325 mg every other day. Newer NSAIDs such as *nebumetone* and *etodolac* may be associated with a reduced incidence of ulcers because of relative sparing of gastric mucosal prostaglandin synthesis. It is now apparent that NSAIDs may also cause small intestinal ulceration and perforations, colitis, colonic strictures, and esophagitis.

Symptoms and Signs

Epigastric pain (dyspepsia), the hallmark of peptic ulcer disease, is present in 80-90% patients. However this complaint is not sensitive or specific enough to serve as a reliable diagnostic criterion for ulcer disease. The clinical history can not accurately distinguish duodenal from gastric ulcers. Less than one quarter of patients with dyspepsia have ulcer disease at endoscopy.⁹ Up to 20% of patients with ulcer complication such as bleeding have no antecedent

symptoms (“silent ulcers”). In patients with NSAID induced ulcers, upto half are asymptomatic. What is more trouble some is that upto 60% of patients with complications do not have prior symptoms.

Pain is typically well localized to the epigastrium and is not severe. It is described as gnawing, dull, aching, or “hunger like”. Classic features of peptic ulcer pain are rhythmicity and periodicity. Rhythmicity means that the pain fluctuates in intensity throughout the day and night. Approximately half of the patients report relief of pain with food or antacids (especially duodenal ulcer) and a recurrence of pain 2-4 hours later. However many patients deny any relationship to meal or report worsening of pain. Two third of duodenal ulcers and one-third of gastric ulcers cause nocturnal pain that awakens the patient. A change from a patients typical rhythmic discomfort to constant or radiating pain reflect ulcer penetration or perforation. Most patients have symptomatic periods lasting upto several weeks with intervals of months to years in which they are pain free (periodicity). Nausea and anorexia may occur with gastric ulcers. Significant weight loss is unusual with uncomplicated ulcer disease and suggest gastric outlet obstruction or gastric malignancy.

Dietary Management

Although the drugs used in the treatment of peptic ulcers are tranquillizers, antacids, antispasmodics and anti-inflammatory drugs, nutrition and daily diet play very significant role in managing the sequential aggravation of its effect. The dietary regulations aim at relief of pain, healing of ulcer and prevention of recurrence of the disease. The principles of treatment are: (1) Mental and psychological rest, (2) Administration of pain relieving medicines, (3) Strict avoidance of smoking and drinking of alcoholic drinks, coffee etc. and (4) Feeding of the patient with milk and a bland diet rich in proteins in small amounts at regular intervals. (Table - 1)

Nutritional Requirement ⁽¹⁰⁻¹²⁾

Calories: The calorie intake should be adequate according to age, sex and occupation.

Proteins: The protein intake should be about 50% higher than the recommended allowances. Atleast 50% of the dietary proteins should come from milk.

Fats: Fat should be incorporated at optimal level providing 40% of calories in the diet. About 50% of total intake should be provided

by milk and remaining by vegetable fats rich in essential fatty acids e.g. sesame oil, sunflower seed oil etc.

Carbohydrates: About 40% of the calorie requirements is provided by carbohydrates. Only milled cereals with low fibre content should be consumed. The vegetables consumed should have a low fibre content.

Vitamines: The diet should contain all the vitamins in adequate amounts. One multivitamin tablet providing the daily requirements of all the vitamins and 500 mg of ascorbic acid should be consumed. Vitamin C has been reported to hasten the healing of ulcers.

Condiments and Spices: They should be completely avoided, as they tend to irritate the gastro-intestinal tract and aggravate the ulcer.

Beverages: Beverages such as coffee and tea stimulate gastric secretion, so they should be minimised. Weak tea with plenty of milk with Cocoa, Maltova, Bournvita etc. are permitted.

Alcoholic drinks: Alcoholic drinks should be completely stopped as they stimulate gastric secretion.

Table 1 - Foods permitted and not permitted in Peptic Ulcer.

| Foods permitted | Foods not permitted |
|--|--|
| 1. Milled cereals (milled, refined wheat flour and semolina) | Whole cereals and whole millets |
| 2. Dhal (decuticled split legumes) | Legumes with husk |
| 3. Milk | Vegetables containing fibre, raw onions garlic etc. |
| 4. Tender vegetables free from fibre | Spices and condiments and pickles |
| 5. Fruits (non-acid) without fibre | Meat |
| 6. Fats and oils | Fried food |
| 7. Sugar | Alcohol, Acid and fibrous fruits, chewing tobacco etc. |

Diet

Diet is the most important factor in the treatment of peptic ulcer. The important aspect in the dietary treatment are: (1) Quantity of food given at each feed, (2) Intervals of feeding, (3) Neutralization of acid, (4) Inhibition of

acid production, (5) Avoidance of foods rich in fibre and (6) Avoidance of gastric stimulants.

Quantity of Food: The quantity of food given in a single feed should be small viz. 3-4 ounces and gradually increased as the intervals between the feeds are longer.

Intervals of Feeding: Initially, feeding with milk may be given at hourly intervals. This is essential as pain recurs in the empty stomach.

Neutralization of Acid: Foods such as milk and eggs have a high acid buffering capacity. By frequent feeding with milk, neutralization of acid in the gastric content is achieved.

Inhibition of Acid Production: Cream, vegetable oils, butter and egg yolk inhibit gastric secretion and reduce motility.

Avoidance of fibrous foods: Foods rich in fibre such as whole cereals and their products, whole legumes and vegetables rich in fibre should be strictly avoided, as these tend to irritate the stomach in increase gastric motility.

Avoidance of Gastric Stimulants: Some beverages and food products which stimulate gastric secretion should be avoided. They include caffeine containing beverages (coffee, tea and cola beverages), alcoholic drinks, spices and condiments, meat extractives and meat soup.

Types of Diet

Three main types of diets have been used in the management of peptic ulcer (Table 2).

Table 2 - Diets used in the treatment of Peptic ulcer

| Sl. Name of Diet | Particulars |
|---|---|
| 1. Sippy's diet and its modification by Hurst | Hourly feeds of milk, cream and olive oil with antacids medication |
| 2. Lennhartz diet | Fluid diet based containing milk and eggs |
| 3. Meulengracht diet | A minced bland diet containing milk, egg, meat and fish (mixed and strained) - Given once in 2 hrs. |
| 4. Anderson Diet | Mixture of milk, cream, dextrose and gelatin. |

Source : Essentials of food and Nutrition by M. Swaminathan

I. Sippy's Diet and its Modification by Hurst

Sippy used a mixture of milk and cream (3:1). The feed is to be given in small amounts (100 to 150 ml) at hourly intervals. The total quantity of milk used per day may vary from 1000 to 2700 ml and cream 600 to 900 ml. Since the intake of milk fat and cholesterol are high on such diets, the diets cause a marked increase in triglycerides and cholesterol level in patients suffering from peptic ulcer and atherosclerosis. In order to avoid the atherogenic effects of cream, Sippy advocated the use of olive oil. Later workers (Mc Hardy, 1964) found a "filled" milk product based on skim milk, refined soyabean oil, vitamins A and D to be highly satisfactory in the treatment of peptic ulcer. This product brought about a reduction in serum triglyceride and cholesterol levels in patients suffering from atherosclerosis.

II. Lenhartz Diet

Lenhartz used a mixture of milk and eggs with a view to increase the protein intake. This diet is richer in saturated fats and cholesterol than Sippy diet and hence is likely to cause considerable increase in serum triglyceride and cholesterol levels in patients suffering from peptic ulcer and atherosclerosis.

III. Meulengracht Diet

Meulengracht (1939) used a "pure diet" based on meat, fish, milk and eggs. The meat and fish were minced and strained in a waring blender (Pureed) so that may be fed along with milk. The diet provided variety and increased the protein intake to about 120 to 150 g. per day.

IV. Anderson Diet

Anderson (1942) suggested a diet containing a mixture of milk, cream, dextrose and gelatin. Gelatin was added to increase the protein content. The formula contained per litre the following ingredients - milk 900 ml, cream 100 ml, dextrose 60 g and gelatin 50 g. The protein content of the diet was about 75 g per litre. About 1.5 to 2 litre of the diet can be given daily in small amounts (100 to 120 ml) at hourly intervals.

V. Formula Based on Soya and Peanut Milk

For patients who are allergic to animal milk, a blend of soya and peanut milk containing dextrose and gelatin can be used.

References :

1. McQuaid, KR : Alimentary Tract - Peptic Ulcer Disease, In “**Current Medical Diagnosis and Treatment**”, LM Tienecy Jr. SJ Mc Phee, and M A Papadakis (Eds), Appllton & Lange, Stamford CT.
2. Mackenzie, F : Peptic Ulcer Disease, In “**Family Health**”, Health Harmony Publishers (Group of B. Jain Publishers (P) Ltd.), New Delhi.
3. Allison, Mc et. al : Gastrointestinal damage associated with the use of nonsteroidal antimflammatory drugs. **N. Engl. J. Med.**, 1992; 327:749.
4. Graham, DY et. al : Duodenal and gastric ulcer prevention with misoprostol in arthritis patients taking NAIDs. **Ann Intern Med**, 1993; 119:257.
5. Henschel, E et. al : Effect of ranitidina and amoxicilline plus metronidazole on ulcer eradication. **N. Engl J Med**, 1993, 328:308.
6. Hosking, SW et. al : Duodenal ulcer healing by eradication of **H. pylori** without anti-acid treatment. **Lancet**, 1994, 343:508.
7. Soll, AH et al : Non-steroidal anti-inflammatory drugs and peptic ulcer disease. **Ann Intern Med**, 1991, 114:307.
8. Sunech, JU et al : Antibactevial treatment of gastric ulcers associated with H. Pylori, **N. Engl. J. Med**, 1995, 332:139.
9. Guyton, AC: Peptic ulcer. In **Human Physiology and Mechanism of Disease**, W.B. Saunders company (Publisher), Philadelphia.
10. Swaminathan, M: **Essentials of food and nutrition**, The Bangalore Printing and Publishing Co. Ltd., 1996, P-145-390.
11. W.H.O. : **Malnutrition and Disease - Freedom from Hunger Campaign Basic Study**, World Health Organisation, Geneva., 1989.
12. Scrimshaw, NS et al : **Interaction of Nutrition and Infection**, World Health Organisation, Geneva, 1991.

Associate Professor
Department of SOL, PM & Yoga
Jain Vishva Bharati Institute
(Deemed University)
Ladnun - 341 306 (Rajasthan)

EMPOWERMENT

Knowledge is Power

Empower the People

— Pratibha J. Mishra

“Empowerment is a continuous process that enables people to understand, upgrade and use their capacity to better control and gain power over their own lives. It provides people with choices and the ability to choose as well as to gain more control over resources the need to improve their conditions” (UNICEF, 1996)

Promoting Popular Participation and Empowerment will require changes in institutional practices and social relations. What changes have been successfully promoted through Participation & Empowerment projects at a) the national level (for example: institutions, laws, Gov. policies and programmes, -all with the goal of supporting equality between women and men); b) the development co-operation programme, and c) the NGO/CBO itself (its procedures and structures).

Empowering an individual is to facilitate a process, the end result of which is to help the individual gain a sense of worth, confidence, and competence. Johnson and Johnson (1997) described a basic method by which an empowerment process can be launched. The idea is to allow the individual to experience the power that comes from making a choice. The group leader could facilitate this by helping members develop a variety of alternatives and flexibility in helping the client through a decision-making process.

Empowerment has always been highly motivating and extremely efficient. It is little used because most leaders desire power and control over efficiency. Today's narrowing profit margins are forcing the adoption of empowerment. Throughout history, empowerment leadership was implemented when "getting the job done" had priority over control.

And the ultimate outcome of empowerment is a community "worthy of the best we humans have to offer" (Terry, 1993, p. 275).

Block (1987) refers to the essence of **empowerment as enacting the vision**. He further explains that definition with his insights that we must develop a personal vision of greatness and must balance autonomy and dependence. It takes courage, too. Although the following discussion is directed for the most part to individuals, these same elements direct the empowerment of organizations and groups.

This first step in choosing empowerment implies that, like it or not, leadership to achieve our vision is solely up to us. If we are unwilling to choose a vision of greatness, we are really saying that we are willing to stand on our laurels. The added benefit of having a vision is that we have given meaning to what we are doing. And meaning seems to be an important component for reclaiming our human capacity.

It is generally agreed that without vision there is no change. Individuals and organizations tend to resist change, especially change as pervasive as a new vision (Nanus, 1992). Recently, Nanus (1995) made a stronger point by saying that even though group members resist change and persist in not rocking the boat, "it can be downright dangerous to your organization's future health and vitality" (p. vi).

In order for organizations to be transformed and empowerment to be actualized, we will need to assure that when control has been offered that we confront our own wishes to be dependent and examine the choices we really have. Block (1987) claimed that "the most popular fictional character in organizational life is *they*" (p. 154). Dependency is often expressed through talk about "they"—they won't make up their minds, they don't want to hear problems, they just want solutions. This "chorus of nonresponsibility" is understandable—it's learned. But the alternative is available with careful self-reflection

To take the empowerment road, we are not choosing the easy route. Because we have the innate sense to take the safe path, we have to become

comfortable with danger and unpredictability. The safe paths lie in rationality and data, in following the norms, in simply following the rules. It is true that dependency is often rewarded. So our integrity will be tested when we act with courage to achieve our vision. These acts will include such things as facing the harsh reality of the situation, examining our own contribution to problems, and putting our authentic view into words in a straightforward manner. And, of course, our courage is expressed best when others are treated well.

There is no guarantee that what we have set out to do will work, but we have made the commitment because we chose our vision of greatness with care and with the realization that we had to do it to be true to self. Our doubts and pessimism will sometimes get in the way. But we will carry on because we choose to live in a way that gives real meaning to our lives. “We are most free, and most fully human, when we are faithfully and consistently living in accordance with the highest values we have recognized and noblest aspirations we have embraced... Consistency of the highest sort is empowerment” (Morris, 1994, p. 154).

Kouzes and Posner (1995) also connect empowerment to enactment: “Credible leaders choose to give [power] away in service of others and for a purpose larger than themselves. They take the power that flows to them and connect it to others, becoming power generators from which [others] draw energy” (p. 185).

The danger in articulating empowerment as a mission is that the concept will not be supported with the kind and depth of education that will move it from a fad to a sustained behavior. The module, *Leadership: Reflective Human Action*, is intended as an educative tool. The challenge is, therefore, to make leadership development a priority and *reflective human action* part of the infrastructure

THE CASE FOR EMPOWERMENT

Definition: empowerment is not “giving power to people” — people already have plenty of power (in their wealth of their knowledge and motivation); rather it is releasing the knowledge, experience, and motivation they already have - empowered people are independent (in their thinking and economically) = freedom- effectively peace organizations are endeavouring to empower people = so we better know how- recognizing the world will pass you by if you do not change is half the battle- if we are to be competitive, our

organizations have to be places where people are glad to show what they can do = empowerment starts at the top; but don't wait for your leaders, empower yourself- benefits of empowerment: WIIFM = What's In It For Me = help everyone reach their potential; make them winners; increased satisfaction; attitude change from 'have to' to 'want to'; greater commitment; better communications; more effective decision making; improved quality of service; reduced operating costs; more sustainable organization

HOW TO EMPOWER

Empowerment has a sense of ownership at its core and it starts with the belief system of top management- it takes time, its difficult, it foreign- leaders and followers need to learn how- have trust in the journey-

The Three Keys:

1. Share Information;
2. Create Autonomy Through Boundaries;
3. Replace the Hierarchy with Self-Directed Teams and People

1. Share Information:

- share information with everyone
- success depends on team effort = there is no superior and subordinate (each has different things to bring)
- information is bringing down walls all over the world = it will bring down your organization if you do not know how to use it
- trust is crucial for an empowered organization
- make your organization a safe place for people to think and use their real talents and knowledge
- leaders provide vision; provide a compelling vision and get everyone involved in clarifying it
- build goals from the bottom up
- shared vision and values = decision making faster and easier

2. Create Autonomy Through Boundaries

- people have to learn new ways of thinking and working together
- boundaries have the capacity to channel energy in certain directions
- you want peoples' energy to have direction and impact
- for associates to be effective, they must see both the big picture and their role in achieving that picture
- it is more like being a partner than being told what to do

- vision comes alive when everyone sees where his/her contribution makes a difference
- make them feel important and listen

3. Replace the Hierarchy with Self-Directed Teams and People

- a team of empowered people is far more powerful than a disconnected set of individuals
- everybody acts as a manager (leader)
- people think directive behaviour is telling people how to do their jobs, but our managers put the emphasis on telling us how to manage our jobs
- teach skills for solving problems, managing meetings, managing the team, and handling conflict
- Empowerment comes from teaching others things they can do to become less dependent upon you
- know when not to step in so that somebody else can act
- build self esteem — brains
- when you give people information and a chance to act like owners they will usually come through
- innovation: permission to take risks, make mistakes, and challenge the way things are done opens up peoples' abilities to learn and use their talents
- shift the definition of a mistake from something bad or wrong to an opportunity to learn and improve = empowers
- peoples' full talents can not be realized unless they feel safe
- in an empowered organization position power means very little ... instead we rely on expertise and relationships and on people taking responsibility for their own actions
- people would rather be magnificent than ordinary = make them winners
- relearn how to take initiative
- once people have the information to understand their current situation, boundaries don't seem like constraints but rather guidelines for action
- structure to release, not inhibit = new rules and boundaries that encourage responsibility, ownership and empowerment
- people can not go from a controlled environment to complete freedom and autonomy overnight
- leadership is not a four letter word (contrary to what most people

people believe) — in fact we want to make everyone leaders using situational leadership.

- empowerment means you have freedom to act; it also means you are accountable for results
- nothing is static in the empowerment process - the boundaries will continue to evolve
- people will define goals for themselves, suggest new roles and improvement
- 4 Basic Rules: 1. Clients are #1 (keep them foremost in our actions); 2. look to the organization's viability/sustainability; 3. be flexible in making quality decisions; 4. keep others in the organization informed
- turn the pyramid upside down for operating decisions
- respect (your 'elders') (everyone's opinions)
- don't give up = persist
- "Asking Memos" vs. "Telling Memos"
- training for Empowerment
- 4 Stages: 1. orientation; 2. dissatisfaction; 3. resolution; 4. production
- use a lot of human relations skills (eg. those people who are ignored become uncooperative)
- continue to grow, develop, stretch.

Conclusion

- "in the midst of the leadership vacuum, flickering lights of empowerment shine"
- Empowerment isn't magic. It consists of a few simple steps and a lot of persistence.

The best definition of empowerment I have ever heard was:

"An invitation for responsible initiative" by Steve Ewing, company president)

This was backed up by his corporate commitment to improve service quality, clarify the mission and vision and all that. He got some good results over a period of a couple of years of effort focused on customer service and perceptions.

More generally, we see these kinds of definitions in the literature:

Empowerment implies individualistic forbearance pyramided upon a congruent pragmatic organizational ideology. Success requires vertical integrity

without innuendo and rhetoric and desired behaviors must be imbricated in and adhered to a completely luminous operational alignment. Flexible compartmentalization is expected. Individuals must exhibit an emotional intelligence and fabricate responses congruent with the ideology and recapitulate with the culture ecologically. Results will be measured.

There is often little actual corporate commitment to this kind of initiative. But, consulting firms will be most pleased to help you construct your customized model to align with your desired results. Certification is optional. And the “investment” can be significant.

Cosmetic Empowerment is more common. It is structurally exhibited by managers as: “Yes, but...”

COMMUNITY EMPOWERMENT WORKING GROUP

DEFINING COMMUNITY EMPOWERMENT

Community empowerment is an elusive concept. The ‘community’ half is complicated enough, though there is a clearer understanding of community now than at the beginning of the community empowerment debate. However the ‘empowerment’ bit has remained problematic. Part of the reason is that empowerment can refer to either a *process* of becoming empowered or a *state* of being empowered; another part is that there is no easy definition of what that end state of being empowered is; and a third part is that there are (at least) two dimensions of community empowerment, the formal and the informal.

An *empowered* community is able to take its own decisions and initiatives on those issues which matter to it.. Where outside decisions affect it, it is able to exert influence in its own interest on the other decision takers. If frustrated by the formal decision taking, it has the dder of formal empowerment, with its lowest rungs close to the powerless end of the spectrum and its top rungs close to the empowered end. It embraces:

information – the community is informed about what has been decided

consultation – the community is invited to respond to a proposal for action but without any commitment to acting on the response

formal involvement – the community has a defined role in decision taking on its own behalf but as one interest among several

deciding power – the community has the right to decide for itself and has the means to implement its own decisions.

Most of the contemporary discussion of community empowerment straddles the consultation and formal involvement rungs of this ladder and there is a reluctance among policy makers to put foot on the fourth rung of a *deciding power* for communities.

Informal empowerment depends on the capacity of a community to take action independently of the state. This power of independent action is usually demonstrated through organised voluntary action initiated and led from within the community. The actions taken in this dimension may overlap with the actions of the official decision taking bodies for the community. For example, local social enterprises may take job creation or vocational training initiatives, local social care organisations may provide support services for people who qualify for publicly funded services.

While constitutionally independent, these community based organisations may be funded by the state: they then become accountable to the state for those funded activities. If they become too dependent they may be incorporated by the state and the community will lose a vehicle for independent action.

Both formal and informal empowerment depend on the community having the capacity to organise itself, often called social capital.. The community will not be able to use whatever formal powers it possesses unless it is able to articulate its concerns and represent them in formal processes. Equally a community will not be able to build community organisations unless its population includes people with organisational skills and knowledge. Usually the more disadvantaged a community is in economic terms the greater its difficulty in articulating and representing its concerns and in building organisations through which to pursue its own objectives.

Both government and non-government contributors to the community empowerment debate have therefore put a lot of emphasis on building disadvantaged communities' capacity to communicate and organise.

Policies to empower communities may focus on the formal or informal dimensions.

Most public policy is aimed at moving communities within the middle rungs of the ladder of empowerment and shies away from the top decision taking rung. The need for capacity building is common to both though the emphasis will differ with the focus. The interaction of formal and informal empowerment and capacity building has been relatively neglected.

priorities of empowerment, social inclusion and security.

These are:

1. For Empowerment – **Citizen’s with Agency and Voice**
2. For Social Inclusion – **Inclusive and Accountable Institutions**
3. For Security – **Societies that are Resilient to Conflict**

The Empowerment Potential of Internet Use.

“To understand how a group of individuals might engage in different processes of empowerment, such as utilizing the flexibility of expression offered on the Internet, we must first understand how individuals and groups are marginalized and disempowered by social institutions in real life. It is appropriate to consider marginality, development and empowerment in conjunction since the concept of development participation has largely been equated with the betterment of the poor and oppressed. Essentially, all of these concepts compromise part of a world-view whose terms have largely been defined by wide range of scholars (cultural analysis, sociologists, political scientists, etc..). This world-view posits that individuals and groups can be oppressed and disempowered by other individuals, groups, social institutions and cultural contexts, and that individuals and groups do have the potential to empower themselves, to be liberated from these limiting factors. My principle reference in researching this knowledge base has been Lucia Vargas’ book *Social Uses & Practices: The Use of Participatory Radio by Ethnic Minorities in Mexico*. This work looks at how indigenous ethnic groups utilized and participated in INI (*Instituto Nacional Indigenista*) public radio stations in central Mexico. Thus, the literature that informed her research on the cultural and development implications of grassroots participation in mass communication projects, as well as her methodology in reception studies and ethnography, have guided my understanding of these vital themes.

The writings of Antonio Gramsci and Paulo Freire, Vargas explains, are principle to the understanding of how participation in developmental communication can lead to empowerment. Gramsci’s concept of hegemony has shaped how cultural studies scholars have viewed the perpetuation of marginality of subordinate groups within societies. According to Vargas this theory, “proposes that the ruling class governs not just by grounding its superiority in economic matters, but also by establishing a widespread belief in its moral and intellectual leadership; it rules by molding, through the church,

the school and the media, the attitudes and convictions of the members of subordinate classes.” For scholars in the communications sector of cultural studies, Gramsci’s focus on the ideological sphere as the site of indoctrination highlights the need of marginalized groups to form oppositional readings of dominate texts and the need for these groups and individuals to be able to communicate these readings as well as creating their own cultural texts to be distributed within the group or community.

Another link between cultural/communication studies and development participation is Paulo Freire’s concept of *conscientizacao*. Freire’s ideas were shaped by existentialist philosophy, liberation theology and his experiences as a missionary in Brazil. The concept of *conscientizacao* is that, “[b]y substituting a naive (in existentialist jargon, romantic) or magic (fatalistic) perception of reality with a critical awareness, people who were treated as mere objects become subjects of their own social destiny.” For Freire, peoples’ relationships with their environment hold many possibilities for adapting things to their own needs. Personal relationships can encompass possibilities for collaboration, solidarity, communication, love and friendship. He observed that for the powerless, the potential for communication has been replaced by a “culture of silence.” Thus, he proposes development based on horizontal relationships between individuals and groups. In summation Vargas posits that, “[d]evelopment for Freire means liberation from all forms of oppression, freedom from social and economic domination and emancipation from the culture of silence.”

It is Freire’s emphasis on the individual’s role in establishing horizontal communication, seeking critical awareness and supportive relationships that offers the most salience to the importance of participation in development. His ideas have been very influential in the rhetoric of development communications, whose political heyday evolved with the emerging UNESCO debate in the 70s, concerning the New World Information and Economic Order. This debate has been described as a conflict between two development paradigms, the modernization or orthodox paradigm (linear growth model) and the political-economy paradigm. Generally speaking, the modernization paradigm describes the models of economic stimulation and subsequent growth that industrialized nations and the Third World envisioned would propel developing nations to more equal status with their wealthier and more stable counterparts. The political-economy paradigm has emerged from dependency and Marxist theories. Basically, it observes that the international economy is

based on western dependence on raw materials from developing nations. Developing nations serve a subordinate role in this equation due to their dependence on the industrialized nations for finished products, especially technologies and capital from selling off cheap labor and raw materials. Thus, this paradigm predicts that western development schemes based only on injection of capital for economic growth in developing countries, do little to stimulate political and economic self-sufficiency or increased empowerment and quality of life for the large populations of impoverished communities in these nations.

Arising out of UNESCO solidarity, politicians and scholars alike began to seek consensus on an alternative development that could draw from the strengths of developing countries, while recognizing their limitations within oppressive international and intranational political economies. "Development communications," is one arena where consensus emerged. The definitions of marginality and participatory development proposed at the First Seminar on Participatory Communication in 1978, are noted by Vargas as being excellent examples of pinnacle concepts within this intellectual movement. Marginality refers to situations where groups within a society do not participate in most economic, social, cultural or political activities. Vargas recounts that: "[i]n this seminar, participation was equated with liberation, and participatory communication was seen as both a means and as an end ." For her own research, Vargas expanded this dual view of participation, originally by Freire, into two working concepts of participation:

1. Participation as a means (equated to liberation): The organized efforts to increase control over resources and institutions in given situations, on part of groups and movements hitherto excluded from such control, for the emancipator purpose of achieving a better life, self-reliance, self-esteem, and freedom from servitude.

2. Participation as a goal (equated to moral and psychological empowerment): The set of feelings, beliefs, and attitudes that accompany the sense of self-worth, on the part of groups and individuals historically regarded by a given society as being unable to cope effectively with situations concerning control over resources and institutions.

The UNESCO meeting at Belgrade in 1977, also contributed to the growing development terminology by attempting to define access, participation and self-management as they pertain to participatory communication. From

Vargas' summery, access can be viewed as: peoples' opportunities and abilities to use communication systems; to receive messages of their choice and to have a range of selections; and to be able to interact with programs' producers by giving feed back, such as criticisms. Participation means the audience's direct participation in production of messages/programs/texts and involvement in the management of communication systems. The last term, self-management was viewed as the "highest level of participation, " implying complete control of production and management.

The advent of increasingly widespread use of the Internet in many parts of the "developed" world has added a new outlook to the definitions of access and participation. As opposed to having access to a television or a radio, access to the Internet truly begins to fulfill these definitions. While being able to allow everyone in a community to create their own programming for local TV and radio stations is technically problematic due to time, revenue, space and technical limitations, access to a wide range of Internet technologies implies that users can receive email from all over the world; can send messages to government officials, web sites authors, friends, strangers, etc; can publish their own creative expressions and thoughts on personal or group web pages (self-management); and can access more information than from anywhere else in the world. When you consider the potential benefits of individuals and groups having access to the Internet, the implications are that this form of participation might not only imply psychological empowerment (participation as a goal) and the potential for group empowerment as a means, but also liberation from marginality. **Thus, use of the Internet implies the type of integral participation through access and self-management that many development and cultural scholars insist are vital to individual and group empowerment.**

John Wesley articulated this ethic as:

**Work as hard as you can!
Save as much as you can!
Give as much as you can!**

The IT Empowerment Initiative will focus on building awareness, skill matching, and opportunities for women and girls in high growth IT careers. The Initiative will also work to identify and remove obstacles that prevent women and girls from entering or staying on such a path. Sources

References:

- Block, P. (1987). *The empowered manager*. San Francisco: Jossey-Bass.
- Covey, S. R., Merrill, A. R., & Merrill, R. R. (1994). *First things first*. New York: Simon and Schuster.
- Kouzes, J. M., & Posner, B. A. (1995). *The leadership challenge*. San Francisco: Jossey-Bass.
- Morris, T. (1994). *True success: A new philosophy of excellence*. New York: Berkley Books.
- Nanus, b. (1992). *Visionary leadership*. San Francisco: Jossey-Bass.
- Nanus. B. (1995). *The vision retreat: A facilitator's guide*. San Francisco: Jossey-Bass.
- Terry, R. (1993). *Authentic leadership*. San Francisco: Jossey-Bass.

Ms. Pratibha J. Mishra
Assistant Professor
Department of Social Work
Jain Vishva Bharati Institute
(Deemed Unviersity)
Ladnun - 341 306 (Rajasthan)

यः स्याद्वादी वचनसमये योप्यनेकान्तदृष्टिः
 श्रद्धाकाले चरणविषये यश्च चरित्रनिष्ठः ।
 ज्ञानी ध्यानी प्रवचनपटुः कर्मयोगी तपस्वी,
 नानारूपो भवतु शरणं वर्धमानो जिनेन्द्रः ॥

जो बोलने के समय स्याद्वादी, श्रद्धाकाल में अनेकान्तदर्शी, आचरण की भूमिका में चरित्रनिष्ठ, प्रवृत्तिकाल में ज्ञानी, निवृत्तिकाल में ध्यानी, बाह्य के प्रति कर्मयोगी और अन्तर् के प्रति तपस्वी है, वह नानारूपधर भगवान् वर्द्धमान मेरे लिए शरण हो ।

With Best Compliments From :

Sumpatlalji Madrecha

PRINCE JEWELLERS

R.A. Kidwai Road
 Wadlada (West)
MUMBAI

Ph. : 24186585, 24162782

प्रकाशक - सम्पादक - डॉ. मुमुक्षु शान्ता जैन द्वारा जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ
 के लिए प्रकाशित एवं जयपुर प्रिण्टर्स, जयपुर द्वारा मुद्रित